समर्पण

उत्कलित उक्ति पहली जल्पित शिक्षित, जिसकी
वसुधरा विशद वत्सला गोद में सगोपन
पाते, मंजुल प्राजल अर्थोत्तम शब्द-शक्ति
उच्छलित मध्यदेशीय गिरा युग युग-बोधन,

तोमर—बुँदेल—सेवित-मृणालिनी—विशद—वीर
जिसने देखी चण्डांशु बिम्ब की प्रथम किरण,
पावन त्रिवेदिकुल-रक्त धमनियों में जिसकी,
ब्रह्मास्त्र-दीप्त, वेरछा-शस्त्र, श्रुति-स्मृति रक्षण,

हिमवान—मेरु-आत्माभिमान, जलनिधि—अगाध
वह ज्ञान-दंभ, परिनमित बुंदेला औं पमार
राजन्य-श्रेष्ट के शिक्षागुरु मंत्रद द्विवेदि-
कुल में परिणीता यज्ञ-अग्नि-संनिभ उदार,

उद्यत वह विंशतितम शताब्दि में प्रथम बार—
मधुमती – सिन्धु—पारा—लवणा—जल-संसिंचित
बुन्देला — भार्गव — पमार — आभीर— सुसेवित
पावन भूमि करे निज जन-प्रतिनिधि निर्वाचित,

पदमर्दित क्षितीन्द्र के वरद हस्त का पोषित,
क्षिप्त कृतक पाखंड लोकसेवा का खंडित,
इस बुन्देलखंड के हृत्ताल की जनवाणी
दिङ्-नभ में जिसके जयघोष तुमुल से मंडित,

द्युति-किरणों का विभ्राजित अभ्रंकष क्रि कूट—
मस्तक विशाल, अ-नमन-परम्परा अविशृंखल,
स्मर-पुर-भव-मख-गज-तम-अंतक-वध कालकूट-
संवरण श्रान्त शितिकंठ चरण में नत केवल;

भार्गव—परशुराम—धारित तैजस प्रचड—प्रभ
गरिमा, भारत की सांस्कृतिक ज्योति को दीपित
युग-युग से करती आती, श्रद्धानत जग मस्तक,
अच्युत प्राप्त प्रकाण्ड मुझे जिससे उत्प्रेरित,

उसी रमाबाई माता दिविगता पुनीता
की कौमुदी-प्रदीत विशद नित-नूतन
पुण्यस्मृति को श्रद्धा—विह्वल—युग—कर—अर्पित
निरुज-नयन-विद्वन्नंदन यह ग्रन्थ अकिंचन।

दो शब्द

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने 'मध्यदेशीय भाषा' शीर्षक जो पुस्तक लिखी है उसे किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं। पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ना ही इसके साथ न्याय होगा। इसकी स्थापना चौंका देने वाली है। मैं स्वयं इतनी करारी बौद्धिक उथल पुथल के लिए तैयार न था। लेकिन लेखक ने जो कहा है उसे इतने प्रमाणों से दिखाया है कि मन सोचने के लिए विवश होता है। हिन्दी साहित्य के कितने ही नये क्षेत्र प्रकाश में आ रहे हैं। स्थान-स्थान पर अनुसन्धान करने वाले विद्वानों से मालात बातचीत होती है तो मन प्रसन्नता से भर जाता है कि हमारे इस महत् हिन्दी साहित्य के कितने अधिक क्षेत्रों में नई सामग्री का प्रकाश क्रमश भरता जा रहा है। देश और काल दोनों में सामग्री के विस्तार की इयत्ता नहीं है। पिछले एक सहस्र वर्षों में जितने भी धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुए सब ने ही साहित्य के रूप में अपनी छाप छोड़ी है। उन खोए हुए सूत्रों को पहचानना और स्पष्ट करना ही अनुसन्धान का लक्ष्य है। राजस्थान से बिहार तक और हिमालय से महाकोशल तक हिन्दी का विपुल विस्तृत क्षेत्र है। उसमें अभी न जाने कितनी नई सामग्री प्राप्त होने की आशा है। कितने केन्द्रों से कितने रजवाड़ों में साहित्य निर्माण का कार्य हुआ था। उत्तर-दक्षिण, पूरब पश्चिम में फैले हुए इस साहित्य क्षेत्र में नये अनुसन्धान का व्रत लेकर कार्य करने वाले हलधर साहित्यिकों की आवश्यकता है। श्री हरिहरनिवास जी ने अपनी इस पहली ही साहित्यिक कृति में कुछ ऐसी मौलिकता प्रदर्शित की है जिसे भविष्य में साहित्य का इतिहास निर्माण करने वाले विद्वानों को देखना अनिवार्य होगा।

यह कहा जा सकता है कि मध्यदेश नाम की परम्परा को बहुत से नये प्रमाणों से वे लगभग हमारे समय तक ले आए हैं। यह भी विदित होता है कि ग्वालियरी भाषा के सम्बन्ध में जो नई सामग्री यहाँ दी गयी है वह भाषा और साहित्य के इतिहास की एक खोई हुई कड़ी प्रस्तुत करती है। उनके प्रतिपादन से यह ज्ञात होता है कि सूर से पूर्वकालीन ब्रजभाषा का सूत्र ग्वालियरी भाषा के हाथ में था, अतएव आगे के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा के साथ ग्वालियरी भाषा की सामग्री को भी अपनाना आवश्यक पाया जायगा। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की स्थापना को भावी अनुसन्धान से और बल प्राप्त होगा, ऐसी आशा है। सचमुच जिस बात को शुक्ल जी ने अपनी पैनी दृष्टि से पहचान लिया था उसी की पूर्ति द्विवेदी जी के इस प्रयत्न से होती जान पड़ती है। शुक्लजी ने ग्वालियरी की पूर्व परम्परा से कुछ भी परिचय न रखते हुए केवल सूरसागर के गेय साहित्य के मार्मिक अध्ययन के आधार पर यह अद्भुत बात कही थी—"ध्यान देने की बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली कृति सूरदास की ही मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों को उलझन में डालने वाली होगी।" शुक्ल जी के इस मार्मिक कथन की व्याख्या के रूप में हरिहरनिवास जी का यह प्रयत्न सर्वथा स्वागत के योग्य है। सूर की संगीत साधना और गेय काव्य की परम्परा दोनों का ही तथ्यात्मक उत्तर पहली बार हमें यहाँ प्राप्त होता है। मानसिंह तोमर के ग्वालियर में और ग्वालियरी भाषा के पदसाहित्य में सूर की साहित्यिक साधना के सूत्रों को प्राप्त करके मन ऐसा आश्वस्त होता है मानो इतिहास की खोई हुई कड़ियाँ पहचान में आ रही

हैं। सूरदास का जन्म स्थान ग्वालियर में था, ऐसा अभिमत कुछ प्रमाणों के आधार पर लेखक ने अभिव्यक्त किया है। इस विषय में योग्य विद्वानों को अधिक अनुसन्धान करने की आवश्यकता है।

गेय पदों के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में एक बात कहना आवश्यक है। अभी हाल में इस बात की अच्छी चर्चा सुनी गयी है कि सूर से पहले ब्रजभाषा में अथवा अन्यत्र कृष्ण चरित्र के गेय पदों की क्या परम्परा थी। ग्वालियरी भाषा की सामग्री उस पृष्ठभूमि में स्वागतपूर्ण उमंग के साथ ग्रहण करने योग्य है। किन्तु यह परम्परा और भी प्राचीन होनी चाहिए। भोज के सरस्वतीकंठाभरण हल्लीसक नाम के मंडल नृत्य का उल्लेख है। उसमें एक युवक बालाओं के मध्य में उसी प्रकार तालबन्ध रास करता था जैसे गोपाल ने गोपांगनाओं के मध्य में किया था—

> मडलेन तु यत्स्त्रीणा नृत्यं हल्लीसक तु तत्।
> तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणा हरिर्यथा॥ (२।१५६)

उसी नृत्य को गोपाल गूजरी या रास भी कहते थे। इन मंडली रास नृत्यों के दो रूप थे। एक तालक रास, दूसरी लकुट रास या डांडिया रास। इन दोनों रासों की परम्परा गुजरात, राजस्थान, मध्यदेश, मालवा आदि प्रदेशों के बड़े विस्तृत प्रदेश में फैली हुई थी। वस्तुतः प्राचीनता की दृष्टि से न केवल मध्य-काल में बल्कि गुप्तकाल में भी इस प्रकार के नृत्यों या अस्तित्व था। उसका सबसे अच्छा प्रमाण मालवा के बाघ स्थान में बने हुए भित्ति चित्रों में पाया गया है, मालवा जैसे इन प्रकार के गोपाल गूजरी रास का घर था। वहाँ चित्रों में इस परम्परा की प्राप्ति हमारे सांस्कृतिक इतिहास की स्वाभाविक वस्तुस्थिति की सूचक है। सम्भवतः यह परम्परा और भी पीछे ले जाई जा सके। इन मंडली रासों के साथ गीत का भी अनिवार्य सम्बन्ध था। प्रश्न यह है कि वे गीत कौन से थे? इस प्रश्न का तत्काल उत्तर

सुनिश्चित सामग्री के रूप मे देना तो कठिन है, किन्तु यह सभावना बताई जा सकती है कि वे गीत जो गोपाल गूजरी नृत्य के समय गाए जाते थे, अवश्य ही कृष्ण लीला के गेय पद थे। ऐसे पदों को प्राचीन काल म 'नारायण गीत' कहा जाता था। गुप्त काल मे भी इस प्रकार के नारायण गीतो का अस्तित्व था, ऐसा अनुमान होता है। चतुर्भाणी के अतर्गत उभयाभिसारिका नामक भाण में भगवान नारायण के भवन या मन्दिर मे कामरस से भरे हुए सगीत करने का उल्लेख है। यह नारायण गीत की ही परम्परा हो सकती है जो कि प्रधानत शृ गार रस के गेय पद होते थे। बारहवीं शती में जयदेव ने जिस तरह के राधा-कृष्ण के उद्दाम शृ गार पर आश्रित पद सस्कृत में लिखे उनके सम्बन्ध में भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या उनकी कोई पूर्व परम्परा न रही होगी। जो प्रश्न शुक्ल जी ने सूरदास के गीतिकाव्य के विषय म किया है ठीक वैसा ही प्रश्न जयदेव के विषय में भी पूछना न्याय्य है, और जिस प्रकार ग्वालियरी के पद साहित्य से सूर के गेय साहित्य के पूर्व इतिहास पर प्रकाश की कुछ किरणें प्राप्त होती हैं वैसे ही जयदेव के विषय में भी सभावना है। जिस प्रकार की सरस पदावली में जयदेव के पद हैं ठीक उसी प्रकार के गेय पद पश्चिमी भारत में निर्मित मान-सोल्लास ग्रथ के तीसरे भाग में (जो अभी प्रकाशन सापेक्ष है) पाए गये हैं। इससे यह तो निश्चित होता है कि कृष्ण सम्बन्धी गेय पदों की परम्परा बगाल से महाराष्ट्र तक फैली हुई थी। अवश्य ही भोजदेव के मालवा में भी वह परम्परा विद्यमान थी। प्रश्न यह है कि जयदेव ने जो रचना सस्कृत में की है उसकी परम्परा देश्य भाषाओं मे थी या नहीं। इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है कि जयदेव की परिपूर्ण शैली का वैसे ही क्रमिक विकास हुआ होगा जैसे अन्य साहित्य का होता है। इस

विकास की मुख्य कड़ियाँ देशी भाषा में ही किसी समय थीं। संभव है कि आगे वे प्राप्त भी हो सकें। मानसोल्लास के ऊपर लिखे हुए भाग में कुछ अपभ्रंश भाषा के नारायण गीत भी है। अनुमान तो यह होता है कि गुप्तकाल में भी जो शृंगार रस के नारायण गीत गाए जाते थे, उनकी भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा रही होगी। कम से कम हल्लीसक रास या तालक और लकुट रासों के गोपाल गूजरी नृत्य के साथ गाए जाने वाले जो गीत थे, वे देशी भाषा में ही थे। इस प्रकार गेय पदों की परम्परा को प्राचीन काल में दूर तक ढूँढ़ना होगा। इस प्रमाण सामग्री में जितनी भी खोई हुई कड़ियों पुनः प्राप्त की जा सकें उतना ही श्रेयस्कर है।

इस पुस्तक में ब्रजभाषा और ग्वालियरी का अनवच्छिन्न सूत्र तो समझ में आता है। उसी के साथ लेखक ने मध्यदेश की एक ही व्यापक भाषा की पृष्ठभूमि में अवधी को भी मिला दिया है, इससे विद्वानों का सच्चा मतभेद संभव है। मध्यदेश और उसकी भाषा के विकास की पूरी ऐतिहासिक परम्परा का चित्र अभी तक स्पष्ट नहीं है, इसके दो कारण हैं। एक तो उपलब्ध सामग्री की मर्यादा और दूसरे इसके पर्याप्त अध्ययन का अभी तक अभाव। दोनों ही दिशाओं से ज्यों-ज्यों कार्यक्षेत्र का विस्तार होगा त्यों-त्यों इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ेगा। लेकिन फिर भी कई बातें मोटे तौर पर अभी भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। जिसे कुवलयमाला में 'तेरे मेरे आउत्ति' वाली मध्यदेशी बोली कहा है उसके पूर्वी और पश्चिमी दो मुख्य भेद थे, और उन्हीं से पूर्वी और पछाहीं दो परम्पराएँ विकसित हुईं। वे दोनों साहित्यिक अभिप्राय, काव्य परम्परा, वस्तुतत्त्व, सांस्कृतिक आदर्श की दृष्टि से परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी भाषा की दृष्टि से अलग पहचानने योग्य हैं। ये ही धाराएँ ग्वालियरी ब्रज

और अवधी की धारा में है। तुलसी और जायसी से भी लगभग दो सौ वर्ष पहले मुल्ला दाऊद द्वारा विरचित चन्दायन नामक अवधी प्रेमकाव्य की प्राप्ति हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना है। १३७० ई० में फिरोजशाह तुगलक के समय में अवधी का यह प्रेमाख्यान काव्य बन चुका था जिसमें जायसी के पद्मावत की वाक्यात्मक रूपरेखा हूबहू पाई जाती है। सौभाग्य से चन्दायन काव्य का कुछ अंश प्रो० हसन असकरी (पटना कालेज, पटना) को मनेरशरीफ के खानकाह पुस्तकालय में प्राप्त हो गया है, उसके देवनागरी संस्करण का प्रयत्न किया जा रहा है। चन्दायन की भाषा और काव्य रूप दोनों की ही प्राचीन परम्परा अवश्य अवधी के क्षेत्र में विद्यमान थी। गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र देव के राजपंडित दामोदरशर्मा द्वारा लिखित उक्तिव्यक्तिरत्नाकर (१२ वीं शती) नामक ग्रंथ में इस भाषा का जो रूप १२ वीं शती में काशी में बोलचाल में था उसका प्रमाण अभी हाल में मिला है। मुनि जिनविजय जी ने उस पुस्तक को प्रकाशित भी कर दिया है। उससे यह निश्चित होता है कि १२ वीं शती में अवधी अपने विकास की रूपरेखा प्राप्त करने लगी थी। दामोदरशर्मा के बिन्दु से आरम्भ करके लगभग २०० वर्षों में चन्दायन तक आते-आते अवधी ने एक समर्थ भाषा का रूप प्राप्त कर लिया था। १३७० से लेकर १६०५ तक अवधी के प्रेमाख्यान एवं अन्य काव्यों की अटूट परम्परा मिलती है जिसमें लगभग १०० ग्रंथ और एक लाख चौपाई से कम सामग्री नहीं है। जिस भाषा का समृद्ध साहित्य और दीर्घकालीन निश्चित परम्परा हो, उसे केवल ग्वालियरी या ब्रज के साथ नत्थी करना असम्भव है। अतएव साहित्य भाषा की तथ्यात्मक परम्पराओं का उद्घाटन ही हम सबका लक्ष्य होना चाहिए। उसी के लिए सब स्थानों से प्राप्तव्य नई-नई प्रमाण-सामग्री का हम आवाहन करते हैं। उसी दिशा

में द्विवेदी जी का यह प्रयत्न भी अभिनंदनीय है।

इस पुस्तक के द्वारा द्विवेदी जी ने एक सेवा और की है और वह है कुछ प्रसिद्ध कवियों को हमारे दृष्टिपथ में ले आना। इनमें गोस्वामी विष्णुदास सचमुच ही प्रतिभाशाली कवि ज्ञात होते हैं। उनका काव्य-संग्रह शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित होना चाहिए। पृष्ठ १३७-३८ पर महाभारत कथा से जो विष्णुदास की कविता का नमूना दिया गया है उसकी सरल और तरंगित शैली १५ वीं सती की उदीयमान हिन्दी भाषा की नवीन शक्ति का परिचय देती है। इस प्रकार का प्रवाह तत्कालीन हिन्दी को नए साँचे में ढाल रहा था। अपभ्रंश काव्यों में जो सक्षम और उल्लास पूर्ण शैली थी उसका समस्त ग्राह्य अंश जैसे विष्णुदास की शैली में आ गया था और इसी से आगे चल कर सूर और तुलसी की भाषा-शैली के प्रवाह का जन्म होने को था। देश और काल में हिन्दी का साहित्य अत्यंत जयशाली है। उसकी जो नई सामग्री जहाँ से भी उपलब्ध हो उसके लिए हार्दिक स्वागत है।

काशी विश्वविद्यालय
आश्विनशुक्ल ६, संवत् २०१२

(डॉ०) वासुदेवशरण

प्रस्तावना

'मध्यदेशीय भाषा' लिखकर द्विवेदी जी ने बड़ा काम किया है। मध्यदेश के एक समय के सब से बड़े केन्द्र को लोग भूल गये थे। कितने ही यह समझते थे कि तानसेन अकस्मात ही ग्वालियर में पैदा हो गये थे। इस बात को जानने की जरूरत है कि साहित्य, संगीत और कला का ग्वालियर शताब्दियों तक गढ़ रहा है। जिसे हम ब्रज साहित्य कहते हैं, वह पहले ग्वालियरी साहित्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह आज की ब्रज-बुन्देली-कनौजी का सम्मिलित साहित्य था। यदि हम उत्तर पंचाली (रुहेलखंडी) को न भी लें, तो जिस तरह ब्राह्मण-उपनिषद काल में कुरुपंचाल और वहाँ की भाषा तथा साहित्य प्रधानता रखता था, पालियों और प्राकृतों के काल में कान्यकुब्ज की भाषा और साहित्य शिष्ट और मुख्य माने जाते थे, इसी की उत्तराधिकारिणी है ग्वालियरी जो पीछे ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हुई।

श्री द्विवेदी जी की सभी स्थापनाओं से सहमत होने की जरूरत नहीं, जिस ग्वालियरी के पक्ष को यहाँ उन्होंने रखा है, वह प्रबल है। पर साथ ही ग्वालियरी होने के कारण उनकी जिम्मेवारी बढ़ जाती है, जिसकी तरफ वे जागरूक भी हैं। ग्वालियरी संगीत के इतिहास तथा कला पर भी प्रकाश डालने की जरूरत है। यह प्रदेश बहुत बड़ा है, और यहाँ बहुत से जैन मन्दिर हैं। ये जीवित मन्दिर अपने छोटे-मोटे हस्तलेख-संग्रहों के साथ हैं, जिन्हें ढूँढने पर ग्वालियरी साहित्य की कितनी ही चीजें मिल सकती हैं।

हिन्दी पाठकों को इतनी सामयिक और ज्ञानवर्धक पुस्तक देने के लिए द्विवेदी जी का कृतज्ञ होना चाहिए।

मसूरी
२४-१०-५५

राहुल सांकृत्यायन

निवेदन

'ग्वालियरी भाषा' नाम से मेरा प्रथम परिचय श्री चन्द्रबली पांडे ने सन् १९४२ ई० में कराया था। उस के लिए मानसिंह तोमर रचित 'मानकुतूहल' की खोज करने की प्रेरणा उनने दी थी। मानकुतूहल आज तक मूल रूप में प्राप्त न हो सका। उसका फारसी अनुवाद रामपुर राज्य पुस्तकालय से सन् १९४५ ई० में मिला। उसे हिन्दी में 'मानकुतूहल' नाम से १९५४ में प्रकाशित करा सका। परन्तु 'ग्वालियरी' की बात मस्तिष्क में अटकी रही। यत्र-तत्र जो संकेत मिलते गये, वे एकत्रित करता रहा।

चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती के सम्पादन में जब उसकी भाषा का विवेचन करने बैठा, तब समस्त प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ लिख डाला। मध्यकालीन काव्यभाषा को ब्रजभाषा नाम देना तथ्यों के अत्यन्त विपरीत ज्ञात हुआ और इस नाम के प्रयोग के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों में कुछ अत्यन्त विचित्र परिणाम दिखाई दिये। इस विषय को मधुमालती की प्रस्तावना में खपा देने से विषय के स्पष्टीकरण की अपेक्षा भ्रान्ति ही फैल सकती थी। विद्वान मित्र डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने इस विषय पर स्वतंत्र पुस्तक लिखने का परामर्श दिया। अतएव मधुमालती का प्रकाशन स्थगित कर इसे पूर्ण करने में लग गया।

प्रयास यह किया गया है कि कोई बात बिना आधार के न कही जाय और इसी कारण विधानों की व्याख्याओं के समान लगभग प्रत्येक कथन के समर्थन में ठोस ऐतिहासिक सामग्री का

आश्रय लिया है अथवा किसी न किसी विद्वान को उद्धृत किया है और पादटिप्पणी में उनकी पुस्तक या लेख का तथा आधारभूत सामग्री की दशा में संग्रह आदि का उल्लेख किया है। इसका एक कारण है। मेरा जन्म बुन्देलखन्ड में हुआ है, यहीं की मिट्टी पानी से मैं पला हूँ, यही मेरा कार्यक्षेत्र रहा है। इसका मुझे उचित गर्व भी है। शंका यही थी कि विशुद्ध सत्यान्वेषण को इस घटना के कारण स्थानीय मोह का रंग दिया जा सकता है। हिन्दी के एक प्रतिष्ठित विद्वान ने इसमें 'ग्वालियरी' के समर्थन में 'अति' देखी। इसी कारण तथ्य और घटनाएँ अन्य विद्वानों की कृतियों से ली गयी हैं। उन्हें एकत्रित रख कर जो परिणाम निकल सकते हैं, उनकी ओर संकेत मात्र किये गये हैं। इस पुस्तक की मूल स्थापना के औचित्य के विषय में मुझे कोई सन्देह अथवा शंका नहीं है। यह तो मैं समझता हूँ कि इसे एकदम पूर्ण समर्थन न मिल सकेगा। जिस भ्रम ने पिछले डेढ़ सौ वर्ष से इन्हें जकड़ रखा है, वह एकाएक पीछा नहीं छोड़ सकता, एक पीढ़ी तो इसके लिए चाहिए ही। संतोष यही है कि निरूजनेत्रों से प्रत्येक बात को देखने वालों का भी अभाव नहीं है। डॉ० वासुदेवशरण, श्री चन्द्रबली पांडे, श्री अगरचन्द नाहटा तथा श्री राहुल जी जैसे अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों का समर्थन आज भी इस पुस्तक की मूल स्थापना को प्राप्त है। जो प्रश्न गौण रूप से इस पुस्तक में आए हैं, उन्हें भी आगे का अध्ययन पुष्ट एवं अधिक प्रमाणित करेगा यह मुझे पूर्ण विश्वास है, क्योंकि ग्वालियरी अथवा बुन्देलखण्डी होते हुए भी इतिहास को इतिहास के रूप में देख सकने का अभ्यास मैंने किया है और उसी भावना से इसे लिखने की सतर्कता बरती है।

डॉ० वासुदेवशरण जी के 'दो शब्द' ने मेरे इस प्रयास की पूरी 'मजूरी' मुझे दे दी है। उनके द्वारा मध्यकालीन काव्य-

भाषा के लिए 'ग्वालियरी ब्रज' नाम प्रयुक्त किया गया है। एकदम नकली सिक्के की अपेक्षा यह मिश्रित धातु वास्तविकता के अधिक निकट है। इस नाम के प्रयोग से ही अनेक भ्रान्तियाँ अपने आप समाप्त हो जाएँगी। श्री राहुल सांकृत्यायन का भी मैं बहुत आभारी हूँ। मेरे आग्रह को स्वीकार कर उनने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की कृपा की और इसकी मूल स्थापना से सहमत होकर उसे बल प्रदान किया। मेरे 'ग्वालियरी' होने के नाते जिस कार्य को पूरा करने का संकेत उनके द्वारा किया गया है उस दिशा में 'विक्रम-स्मृति-ग्रंथ' के सम्पादन से लेकर 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', 'ग्वालियर राज्य की मूर्तिकला, मानसिंह और मानकुतूहल', 'भारत की मूर्तिकला' आदि में निभाने का प्रयास किया है परन्तु यह कार्य वास्तव में किसी विशाल संस्था का है, एक व्यक्ति का नहीं। वह संस्था कभी खड़ी हो सके इसका अभी तो स्वप्न देखता हूँ। अनेक स्वप्न साकार हुए भी हैं, यह कब होगा इसका उत्तर समय और मध्यदेश के समर्थ मित्र दे सकेंगे। तभी मध्यदेश का चिरकल्पित राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास भी लिखा जा सकेगा, जिसके साथ आज तक न्याय नहीं हो सका।

जिन विद्वानों की कृतियों और हस्तलिखित सामग्री से मैंने लाभ उठाया है, उनका उल्लेख पुस्तक में यथास्थान किया है। उनका मैं आभारी हूँ। मेरे मित्र श्री गुरुप्रसाद दुबे तथा श्री नन्नूलाल खण्डेलवाल और मेरे अनुज श्री विजयगोविन्द द्विवेदी इस पुस्तक को पूरा कराने पर तुले हुए थे। वे गाड़ी आगे न धकेलते तो मैं तो अभी इसे पूरा न कर सकता था, किसी अनिश्चित भविष्य के लिए ही इसे स्थगित करता रहता। विद्यामन्दिर-प्रकाशन के प्रबन्धक श्री उदय द्विवेदी

और मुद्रक श्री भगवानलाल शर्मा तो मेरे व्यक्तित्व के ही अंग हैं। यदि इसके प्रकाशन से कोई ज्ञान-वृद्धि हुई है, तो ये सब भी उसके भागी हैं।

मुरार विजयादशमी, स० २०१२ वि० २६ अक्टूबर, १९५५ ई०	हरिहरनिवास द्विवेदी

कृतज्ञता-ज्ञापन

गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो स्रम बृथा बाल कवि करहीं।

बाल लेखक के रूप में ऐसे अनेक प्रयास कर चुका हूँ जो विके तो बहुत पर बुधजनों से समादृत न हो सके। इस छोटीसी पुस्तक ने विद्वानों को आकर्षित किया और उनका आशीर्वाद इसे मिल सका, यह मेरे लिए परम संतोष की बात है। उससे अधिक संतोष इस बात का है कि बुन्देलखण्ड और ग्वालियर के इतिहास के एक गौरवशाली परिच्छेद को विद्वानों के सामने लाकर ऋणिऋण से कुछ सीमा तक मुक्ति पा सका हूँ।

ज्ञात होता है, हिन्दी में खरीद कर पुस्तकें पढ़ने की आदत भी कुछ बढ़ चली है, अन्यथा चार मास के समय में इसके पुनर्मुद्रण का अवसर आना संभव नहीं था। यह केवल पुनर्मुद्रण है, दूसरा संस्करण नहीं। मैं उसे इस बीच दुबारा पढ़ भी नहीं सका हूँ। चाहता तो था कि इसमें यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन परिवर्धन कर सकता, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं था।

नवप्रभात प्रेस का मैं आभारी हूँ कि इसकी माँग की पूर्ति के लिए उसके द्वारा यह शीघ्र ही दुबारा छाप दी गयी। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनने अपना बहुमूल्य समय इसे पढ़ने में बिता कर अपनी उत्साहवर्धक सम्मतियाँ भेजी हैं।

शिवरात्री
१० मार्च १९५६

हरिहरनिवास द्विवेदी

विषय-सूची

मध्यदेशीय भाषा

(ग्वालियरी)

प्रारंभिक

ईसवी सातवीं शताब्दी तथा उसके कुछ शताब्दियों पश्चात भी समस्त भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत रही। धुर दक्षिण से उत्तर तक लगभग समस्त राजकीय शिलालेख संस्कृत में मिलते हैं। अपवाद स्वरूप कुछ लेख अन्य स्थानीय भाषाओं में भी हैं। राष्ट्रभाषा संस्कृत द्वारा समस्त भारत में विचारों का आदान-प्रदान होता था। साथ ही लोक-भाषाएँ विभिन्न प्राकृतों के रूप में विकसित हो रही थीं। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों ने जन-सम्पर्क-स्थापन के प्रयास में प्राकृतों में बहुत बड़े साहित्य का निर्माण किया। यद्यपि शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि प्राकृतों के अनेक स्थानीय भेद हो गये थे, परन्तु शिष्ट साहित्य की बहुप्रचलित मान्य भाषाएँ महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत थीं। महाराष्ट्री और शौरसेनी के मेल से 'नागर' प्राकृत का जन्म हुआ*। इसका केन्द्र मध्यदेश था। समस्त मध्यदेश, राजस्थान तथा गुजरात में यह लोकभाषा के रूप में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गयी थी। पूर्व की ओर इस प्राकृत का विस्तार होने पर उसका मागधी से मेल हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अर्धमागधी का जन्म हुआ जिसका प्रचार प्रयाग और मगध के बीच रहा। संस्कृत के पश्चात इनके द्वारा ही भारत राष्ट्र ने विचारों का आदान-प्रदान किया। हिन्दी और प्राकृत के बीच की कड़ी अपभ्रंश है। ये अपभ्रंश अनेक स्थानीय भेदों को लेकर चली थीं, परन्तु वे एक व्यापक काव्यभाषा को मानती थीं।

अपभ्रंशों का प्रादुर्भाव

इन अपभ्रंशों से ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी से वर्तमान हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। प्रयाग से लेकर

---

* अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : क्या हिन्दी मेरठ की बोली है ?, भारती, जून १९५४, पृष्ठ ५।

गुजरात तक, अर्थात् मध्यदेश, राजस्थान और गुजरात में जिस भाषा का विकास हुआ वह मूल रूप में बहुत अंशों में समानता लिये हुए थी। प्रयाग के पूर्व में भी तिरहुत के विद्यापति की कीर्तिलता और सिद्धों की भाषा भी इसी केन्द्रीय भाषा की ओर उन्मुख है। यही कारण है कि जहाँ सरहपा, कण्हपा और शबरपा तथा 'कीर्तिलता' की भाषा प्राचीन हिन्दी मानी जाती है, वहाँ राजस्थान की डिंगल पिंगल, भड़ौंच के गणपति की 'माधवानल कामकन्दला' की भाषा भी प्राचीन हिन्दी ही है। प्राचीन मराठी भी उसके प्रभाव को लिये हुए है। बौद्ध-जैन सिद्ध-नाथ सम्प्रदायों ने इसे धुर दक्षिण तक पहुँचा दिया। व्यापारिक और राजकीय सम्पर्क भी उत्तर की भाषा दक्षिण में ले गये। अलाउद्दीन के आक्रमण के पहले ही उस भाषा का सूत्रपात हो चुका था जिसे आज दक्खिनी हिन्दी के नाम से सम्बोधित करते हैं।

प्राचीन हिन्दी

प्रान्तीय भाषाओं का विकास किस प्रकार होता गया और केन्द्रीकरण के साथ साथ भाषाओं का विकेन्द्रीकरण किन कारणों से होता रहा, इसके विवेचन का यह स्थान नहीं। यहाँ तो केवल हिन्दी के विकास पर विचार करना है। मगध के पश्चिम की अपभ्रंश अनेक रूपों में विकसित हुई। जब पूर्व-मध्यकालीन प्राकृतों ने अपभ्रंशों का रूप धारण किया, तब उनके द्वारा जिस देश व्यापी देशी भाषा का निर्माण हुआ था वह अनेक रूपों में निखरने लगी। धुर पूर्व में बंगाली, ठेठ पश्चिम में गुजराती तथा दक्षिण में मराठी भाषाओं का विकास हुआ। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी ने रूप ग्रहण किया। मध्यदेश में हिन्दी के प्रकृत रूप का विकास हुआ। इस मध्यदेश की भाषा का प्रसार पूर्वी राजस्थान और बिहार तक रहा। पश्चिमी राजस्थान में वह गुजराती के रूप से प्रभावित रही तथा अपभ्रंश से पूर्णतः मुक्त न हो सकी। पूर्व में वह मागधी की परम्परा से अभिभूत रही। उत्तर-पश्चिम — पूर्वी पंजाब में पंजाबी प्रभाव होना प्राकृतिक था। परन्तु ये सभी सीमा वर्ती रूप केन्द्रीय भाषा की ओर उन्मुख रहे तथा स्थानीय प्रभावों के होते

रूपभेद

हुए भी मध्यदेशीया हिन्दी के अंग बने रहे।

हिन्दी के विकास की स्पष्टतः दो अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। ईसवी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक वह अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त न हो सकी थी। आगे दो शताब्दियों में उसका वह संस्कृत-तत्सम-शब्द-बहुल रूप बन गया था जिसमें आगे उत्तर-मध्यकाल का विशाल साहित्य लिखा गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन दो कालों को हिन्दी के विकास के 'प्राकृत काल' और 'संस्कृत काल' कहा है*। प्राकृत काल में जिस अपभ्रंश हिन्दी का निर्माण हुआ, उसमें मान्यता शौरसेनी नागर अपभ्रंश को थी। हिन्दी के प्राकृत-कालीन रूप के विकास का इतिहास यहाँ अनावश्यक है, उसके सम्बन्ध में एक ही बात यहाँ स्मरण रखने योग्य है कि उसका मध्यदेश का रूप ही टकसाली माना जाता था, जो मध्यदेशीया अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई थी। आगे चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी के जिस रूप का निर्माण हुआ, उसका केन्द्र ग्वालियर था। इन तीन सौ वर्षों तक इस नवीन हिन्दी का नाम ही 'ग्वालियरी भाषा' था। यद्यपि यह भाषा उत्तर भारत की मान्य काव्यभाषा थी तथा उसका प्रसार गुजरात, महाराष्ट्र और धुर दक्षिण में भी हुआ था, परन्तु उसका नामकरण उस स्थान के नाम पर हुआ जहाँ की भाषा इन समस्त प्रदेशों में उसका व्यवहार करने वालों के लिए प्रामाणिक रूप में मान्य थी। आज से दस वर्ष पूर्व इसी आशय से हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान श्री चन्द्रबली पांडे ने प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करते हुए लिखा था कि इन चार शताब्दियों में (ईसवी चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक) 'होता यह था कि जब किसी शब्द के प्रयोग पर विवाद होता था तब व्रजभाषा का ही प्रयोग शिष्ट माना जाता था, अर्थात् भाषा की टकसाल व्रजभूमि अथवा ग्वालियर मानी जाती थी†।' पांडेजी ने 'व्रजभाषा और

ग्वालियरी भाषा— पांडेजी का मत

* रामचन्द्र शुक्ल : बुद्धचरित, पृष्ठ १२।

† चन्द्रबली पांडे : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६।

व्रजभूमि' का उल्लेख प्रचलित रूढ़ि के पालन मे किया है। व्रजभूमि की भापा सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात कुछ कवियों और सम्प्रदायों के द्वारा टकसाली मानी गयी, उसके पहले टकसाली रूप ग्वालियरी का ही मान्य था। श्री पांडेजी ने आगे अपने 'केशवदास' मे 'ग्वालियरी भापा' पर कुछ अधिक विचार किया है और केशवदास की भापा को 'ग्वालियरी' कहा है*। भले ही अस्पष्ट और प्रारंभिक रूप मे हो, परन्तु 'ग्वालियरी' की ओर सर्वप्रथम संकेत करने का श्रेय श्री पांडे जी को है†।

इस विपय में अद्यतन अभिमत श्री राहुल सांकृत्यायन ने प्रकट किया है। श्री राहुल ने लिखा है 'जान पड़ता है, तुगलकों के शासन के अन्त में दिल्ली की सल्तनत के कमजोर पड़ जाने पर व्रज-ग्वालेरी भापा के क्षेत्र में जो राज्य कायम हुआ, उसका केन्द्र ग्वालियर था, इसलिए व्रज बुन्देलखण्डी का नाम ग्वालेरी भापा भी कहा जाने लगा।' साथ ही राहुल जी ने लिखा है 'व्रज-भापा और ग्वालेरी को कभी पर्याय माना जाता था। वस्तुत. बुन्देली और व्रज की भापाएँ इतनी समानताएँ रखती है कि अभी भी कितने ही व्रज-भापा-भापी बुन्देली को व्रज की एक बोली ही समझते है, और जिसे आज के बुन्देले पसन्द नहीं करते। जब आज इतनी समानता है, तो आज से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व तो वह और भी रही होगी‡।' प्रश्न किसी के कहने और किसी के पसन्द करने या ना पसन्द करने का नहीं है, महत्त्वपूर्ण प्रश्न है ऐतिहासिक वास्तविकता जानने का और सत्यान्वेपक-बुद्धि से उसे मानने का। श्री चन्द्रवली पांडे और श्री राहुल सांकृत्यायन के इन दो अभिमतों की अभिव्यक्ति के बीच

राहुल जी का मत

---

* चन्द्रवली पांडे : केशवदास, पृष्ठ २९४।

† प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'मानसिंह और मानकुतूहल' की भूमिका।

‡ राहुल सांकृत्यायन . ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६७।

इतनी सामग्री ज्ञात हो चुकी है कि मध्यकालीन हिन्दी की विकास परम्परा को कुछ अधिक स्पष्टता के साथ तथ्यों के आधार पर निरूपित किया जा सके।

जिस समय हिन्दी के 'संस्कृत रूप' का विकास हुआ, उस समय व्रजमण्डल नामक क्षेत्र अथवा व्रजभाषा नामक भाषा का अस्तित्व नहीं था,* न उस समय बुन्देलखण्ड अथवा बुन्देली भाषा नाम ही प्रचलित थे। ये संज्ञाएँ बहुत बाद की हैं और इनके आधार पर हिन्दी के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को समझना सम्भव नहीं है। उस समय, अर्थात तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक, इस प्रदेश को मध्यदेश कहा जाता था और यहाँ विकसित हुई हिन्दी के नाम 'देशी भाषा', 'भाषा', 'मध्यदेश की बोली' 'मध्यदेशीया' अथवा 'ग्वालियरी भाषा' मिलते हैं†। आज समस्त मध्यदेशीय साहित्य की भाषा को व्रजभाषा नाम देने की परम्परा ही नहीं चल पड़ी है, वरन समस्त मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की भाषा को मथुरा-गोकुल के संकुचित क्षेत्र की स्थानीय शब्दावली, व्याकरण तथा प्रयोगों के मापदण्ड से परखने की रीति भी चल पड़ी है। यह भयंकर ऐतिहासिक विपर्यय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बुद्ध चरित को शुद्ध यानी मथुरा की भाषा, व्रजभाषा, में लिखने के प्रयास के समर्थन में लिखा है 'ऐसी भाषा को देखते हुए व्रजभाषा को जो 'ऐतिहासिक' या 'मरी हुई' कहे, उसे अपना अनाड़ीपन दूर करने के लिए दिल्ली भाड़ झोंकने न जाना होगा, मथुरा की एक

ग्वालियरी और व्रजभाषा

---

* डॉ० सत्येन्द्र : व्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४६ तथा डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : व्रजभाषा, पृष्ठ १६-१७।

† रेखता नाम भी बाद का है, जो मुगल दरबार में खड़ीबोली-युक्त पद्य के लिए प्रयुक्त हुआ और जिसका विकास दिल्ली में पंजाबी के प्रभाव के कारण हुआ। इस भाषा को 'गूजरी' नाम भी दिया गया।

परिक्रमा से ही काम चल जायगा* ।' संवत १६७६ वि० में जब शुक्ल जी ने यह वाक्य लिखा था, तब व्रजभाषा 'ऐतिहासिक' भले ही न हो, पर आज वि० स० २०१२ में वह क्या है यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसमें किसी को कोई अफसोस करने की बात भी नहीं, भाषा के रूप तो बदलते ही रहे हैं, बदलते ही रहेंगे। व्रजभाषा नाम से निर्देशित साहित्य भारतीय वाङ्मय की अमर विभूति है, यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं, परन्तु साथ ही यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि मथुरा की परिक्रमा से जो भाषा जानी जायगी, उसमें विशुद्ध रूप में काव्य रचना करने वाले नेही महाँ व्रजभाषा प्रवीन बहुत थोड़े की और बहुत थोड़े पैदा हुए हैं। मध्यकालीन काव्यभाषा के वास्तविक रूप को समझने के लिए न दिल्ली भाड़ झोंकने के लिए जाने की आवश्यकता है और न चौरासी वैष्णवन की वार्ता में प्रस्थापित व्रज मण्डल के चौरासी कोस की परिक्रमा करने की आवश्यकता है। इसके लिए तो विष्णुदास, मानक, बैजनाथ, चतुर्भुजदास निगम, केशवदास, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, बैजू, तानसेन, बिहारीलाल, महाकविराय सुन्दरदास, यशवन्तसिंह, भिखारीदास, भूषण जैसे कवियों की कृतियों के अवगाहन और ग्वालियर तथा ओड़छा की रज लेकर बेतवा और चम्बल के जल से मनमुकुर निर्मल करने से काम चल जायगा।

व्रजभाषा और बुन्देलखण्डी आदि नामों से उत्पन्न भ्रम

मध्यकाल के हिन्दी साहित्य को व्रजभाषा, बुन्देलखण्डी अथवा अवधी कोई भी नाम देने में किसी को उतनी आपत्ति नहीं हो सकती, नाम में धरा भी क्या है, परन्तु जिस प्रवृत्ति के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य के विवेचनों में अत्यन्त विद्रूप परिणाम निकले हैं वह है मथुरा गोकुल की बोली को टकसाली मानकर हिन्दी के संस्कृत रूप के विकास से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक की काव्य भाषा के

* रामचंद्र शुक्ल बुद्ध चरित, काव्य भाषा, पृष्ठ ५५।

परीक्षण की भावना। इसी के कारण व्रजभाषा और व्रजमण्डल के एक सम्प्रदाय विशेष में अस्तित्व प्राप्त करने से पहले की भाषा का नाम 'व्रजभाषा' दिया जाता है*, सूर, केशव, तुलसी, बिहारी जैसे अनेक महाकवियों की भाषा को व्रजभाषा मानकर उसमें बुन्देलखंडी अवधी का प्रभाव बतलाया जाता है। इन स्थापनाओं से ऊबकर, उनकी प्रतिक्रिया के रूप में यह भी लिख दिया जाता है 'चन्देल साम्राज्य के अधिकांश भाग में बुन्देलखंडी भाषा अपनी अनेक स्थानीय बोलियों के साथ ग्यारहवीं बारहवीं सदी में विकसित हो रही थी†।' वास्तविकता यह है कि हिन्दी में व्रजमंडल को केन्द्र मानकर चलने वाली काव्य भाषा का कभी अस्तित्त्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में हुई, वह बंगाल की देन है। उस समय काव्य-भाषा की टकसाल कहीं अन्यत्र थी। वह उस प्रदेश में थी जिसे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'व्रजभाषा' में व्रज भाषा के क्षेत्र से बाहर बतलाया है‡। ग्वालियर और बुन्देलखंड की भाषा को ही उस समय काव्यभाषा का टकसाली रूप माना जाता था। उसका विस्तार समस्त मध्यदेश में था। पूर्वी राजस्थान, दिल्ली, अयोध्या और सुदूर विन्ध्याटवी के काव्य मर्मज्ञ उसमें रचना करते थे। तब तक 'व्रजमंडल' वर्तमान अर्थों में उसका एक छोटा-सा अंश मात्र था, जहाँ के विद्वानों को भी ग्वालियर में ही प्रश्रय मिलता था। यह ग्वालियरी, मध्य देशीया शौरसेनी की पुत्री, अपना शब्द भण्डार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मुस्लिम सम्पर्क के पश्चात अरबी-फारसी तक से भरती थी। पुष्टि मार्गी अष्टसखाओं को भी उसका ही रूप दाय में मिला था। जब मानसिंह तोमर का अखाड़ा ई० १५१७ में उखड़ा, तब उसके पण्डित, साहित्यकार, कलावन्त, चित्रकार और शिल्पी दिल्ली, आगरा, ओड़छा, रीवाँ आदि में

---

* डॉ० धीरेन्द्र वर्मा व्रजभाषा, पृष्ठ १७।

† केशवचन्द्र मिश्र चन्देलों का इतिहास, पृष्ठ २१३।

‡ डा० धीरेन्द्र वर्मा व्रजभाषा मानचित्र।

फैल गये। गायक बैजू और तानसेन इसी अखाडे के शिष्य थे। विष्णुदास मानसिंह, बैजू, तानसेन, रामदास आदि का पद-साहित्य सूर को मिला था और इसी भेद को न समझने के कारण सूर की भाषा में बुन्देली प्रभाव दिखाई देता है। वह प्रभाव नहीं, उस समय की प्रतिष्ठित काव्य भाषा का रूप है। इसी ग्वालियरी भाषा को लेकर केशव और बिहारी के पूर्वज ओड़छा गये थे, इसे लेकर ही अयोध्या का मानव अयोध्या लौटा होगा और इसे ही लेकर ग्वालियर के गूजर, खिलजी और तुगलकों की सेनाओं के साथ दक्षिण गये होंगे तथा इनके ही कारण दक्खिनी हिन्दी का एक नाम 'गूजरी' पड़ा होगा*। गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयम्भू की रामायण पढ़ी थी†, उसकी पूर्वतम उपलब्ध प्रति ग्वालियर में लिखी मिलती है‡। अधिक समय श्रद्धापूर्वक चित्रकूट में बिताने वाले गोस्वामी जी की भाषा में बुन्देली प्रभाव देखने वाले यदि ये तथ्य स्मरण रखें और ग्वालियर में बनी व्यापक काव्य भाषा को दृष्टि में रखें, तो ग्रियर्सन साहब द्वारा भारत के खड खड करने के प्रयास में प्रदत्त बुन्देलखडी नाम की भाषा के ब्रजभाषा में घुस बैठने की इतिहास विरुद्ध कल्पना न करें। 'ब्रजभाषा' और 'ब्रजमडल' नाम तो खोजने पर सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में मिल भी जाएँगे, परन्तु बुन्देलखडी बोली या भाषा नाम कब और कहाँ प्रयुक्त हुआ है, इस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। बुन्देलों ने बुन्देलखड नाम दिया, परन्तु उन्हें बुन्देली भाषा नाम देने की आवश्यकता न थी। उनके प्रदेश की भाषा उस समय समस्त हिन्दी

---

* श्रीराम शर्मा दखिनी का पद्य और गद्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की अवतरणिका, पृष्ठ ५।

† राहुल साङ्कृत्यायन तुलसी और स्वयभू या शभू सरस्वती सितम्बर १९५५ पृष्ठ १५६।

‡ राहुल साङ्कृत्यायन ग्वालियर और हिंदी कविता, भारती अगस्त १९५५ पृष्ठ १६७।

भाषी जनता की मान्य काव्यभाषा थी, वे उसे सकुचित रूप क्यों देते? इस मध्यकालीन काव्यभाषा का रूप यदि व्रजभाषा से मिलता है तो इस कारण से कि आगे नाम ग्रहण करने वाले व्रजमंडल में भी वह मान्य काव्यभाषा थी, वह व्रजमंडल मध्यदेश का ही एक छोटा सा भाग था। मथुरा की परिक्रमा की सीमा में भाषा के रूप को आबद्ध कर पुष्टिमार्ग के प्रचार के पूर्व अथवा उसके पश्चात् हिन्दी के समर्थ कवियों ने (कुछ अत्यन्त अल्पसंख्यक कवियों को छोड़कर) रचनाएँ नहीं कीं। जब नाम बदल ही गया, तो उसे स्वीकार अवश्य कर लिया गया, परन्तु इस भाषा की परिभाषा बदल दी गयी और भिखारीदास ने उसी काव्यभाषा की परम्परा को देखकर ही व्यवस्था दी—व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानो।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नाम में कोई महत्त्व नहीं। ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक की मध्यकालीन हिन्दी भाषा को व्रज भाषा कह लीजिए, अवधी कह लीजिए, भाषा कह लीजिए, चाहे हिन्दवी या हिन्दी कह लीजिए महत्त्वपूर्ण बात है उसकी रूप परम्परा को समझने की। 'व्रजभाषा' नाम अपने साथ मथुरा की परिक्रमा की सकुचित भावना लेकर चलता है, वह उसका प्रतीक बन गया है। इसके कारण हमें इस मध्यकालीन काव्यभाषा में बुन्देलखंडी, कन्नौजी, राजस्थानी, अवधी, मालवी विभेदों की दीवारें खड़ी दिखाई देती हैं जो वास्तव में उसमें कभी नहीं मानी गयीं। जिस प्रकार जायसी ने ग्रामीणों में इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए व्यापक काव्यभाषा का रूप छोड़ कर अवध की स्थानीय बोली को अपनाया, उसी प्रकार साम्प्रदायिक आग्रह से पुष्टिमार्ग ने मथुरा-गोकुल की बोली के रूपों को अपनाया। वे मध्यकालीन काव्यभाषा के मान्य रूप नहीं हैं, उसके अपवाद हैं। अपवादों से नियम नहीं बनते। इसके विपरीत, ग्वालियरी भाषा के नाम के पीछे उस व्यापक काव्यभाषा की कल्पना है, जो मध्यकाल की काव्यभाषा थी। इस तथ्य का विस्मरण ही समस्त गड़बड़ी का

मध्यदेश की भाषा के विकास के अध्ययन की आवश्यकता

मूल है। मध्यकालीन मध्यदेश की भाषा के विकास के इतिहास को हृदयंगम करने के पश्चात ही उस मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा का सही रूप से विवेचन हो सकता है, जिसके विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल लिख गये हैं—'यद्यपि यह वाणी व्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध है, पर वास्तव में अपने संस्कृत रूप में यह सारे उत्तरापथ की काव्यभाषा रही है (और है)।'* उसे नाम कोई भी दे लीजिए, प्रधान प्रश्न उसके रूप तथा उसकी ऐतिहासिक परम्परा का है।

---

* रामचन्द्र शुक्ल : बुद्ध चरित, पृष्ठ २ (कोष्ठक हमने लगाये हैं)।

मध्यकालीन मध्यदेश

मध्यदेश विषयक भ्रान्त धारणाएं

मध्यकालीन हिन्दी—मध्यदेश की भाषा—के विकास को समझने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि मध्यकाल में मध्यदेश भारत के किस भू-भाग को माना जाता था, उसके सांस्कृतिक और राजनीतिक केन्द्र कहाँ थे और कौनसे वे स्थान थे जहाँ के शब्द-साधकों ने भाषा को यह रूप दिया जिससे यह अप-भ्रंश से बिलकुल भिन्न दिखने लगी—वह संस्कृत परक हो गयी। इस परम्परा को ठीक न समझने के कारण हम हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों में सही परिणामों पर नहीं पहुँच सके हैं। मध्यदेश का सांस्कृतिक इकाई के रूप में मध्यकाल में अस्तित्व था और मध्यदेश नाम एक सीमा विशेष के लिए ही प्रयोग होता था। यह तथ्य अब तक स्पष्ट रूप से मान्य नहीं किया जा सका। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के मूर्धन्य विवेचकों के मस्तिष्क में यह धारणा घर कर गयी कि ऐतरेय ब्राह्मण से अलबेरूनी के समय तक मध्यदेश का जो रूप साहित्य और इतिहास में प्रतिष्ठित था, वह मध्यकाल में विच्छिन्न हो गया। लगभग तीस वर्ष पूर्व डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का एक लेख 'मध्यदेश का विकास' प्रकाशित हुआ था।* उसमें ऐतरेय ब्राह्मण से अलबेरूनी (सन् १०३० ई०) तक मध्यदेश से भारत के किस भू भाग से आशय समझा जाता था, इसका विवेचन किया गया है। अन्त में निष्कर्ष यह निकाला गया है कि विदेशियों के आधिपत्य के कारण मध्यदेश शब्द को ही मध्यदेश वालों ने बिलकुल भुला दिया। इस

---

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ४, अंक १, तथा विचारधारा, पृष्ठ १—१०।

स्थापना की उनके द्वारा अभी हाल तक पुष्टि हुई है* । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश शब्द का प्रयोग 'अवध आदि' के लिए किया है† । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आज के समस्त हिन्दी भाषी प्रदेश को ही मध्यदेश कह दिया है‡ । 'मध्यदेश' का यह अस्पष्ट एवं भ्रामक प्रयोग आगे अनेक विद्वानों ने किया ।

अलबेरूनी के पश्चात मध्यदेश को न तो मध्यदेश वालों ने भुलाया न देश के अन्य भाग वालों ने । मध्यकाल मे अत्यन्त स्पष्ट रूप मे लोगों के सामने मध्यदेश नामक सास्कृतिक इकाई की रूपरेखा थी।

मध्यकाल का मध्यदेश

वास्तविकता तो यह है कि ईसवी दसवी शताब्दी से तो उसका स्पष्ट अविच्छिन्न रूप प्रारभ हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में जिस मध्यदेश का उल्लेख है, उसमे कुरु पाचाल, वश और उशीनरो के प्रदेश माने जाते थे। अत. पश्चिम मे प्राय कुरुक्षेत्र से लेकर पूर्व में फरुखाबाद के निकट तक और उत्तर मे हिमालय से लेकर प्राय चम्बल नदी तक का आर्यावर्त देश ऐतरेय ब्राह्मण के समय में मध्यदेश गिना जाता था । मनुस्मृति मे मध्यदेश की सीमा हिमालय और विन्ध्य के मध्य मे और विनशन से पूर्व तथा प्रयाग से पश्चिम मे बतलाई गयी है। जहाँ प्राचीन सरस्वती नदी मरुदेश मे विलीन होकर नष्ट हो गयी, वही विनशन है । यह मेवाड और उदयपुर के पश्चिम का मरुदेश है¶ । फाह्यान मथुरा से दक्षिण के भू भाग को मध्यदेश कहता है । अलबेरूनी ने कन्नौज के आसपास के प्रदेश को मध्यदेश कहा है।

---

* धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास (१९५३ का सस्करण) पृष्ठ ४४।

† रामचन्द्र शुक्ल बुद्ध चरित, पृष्ठ ४।

‡ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १ ।

¶ अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी क्या हिन्दी मेरठ को बोली है ?, भारती जून १९५४, पृष्ठ ७।

राजशेखर कान्यकुब्ज (कन्नौज) का राजकवि था। उसका काव्य काल ईसवी सन् ६०० के लगभग है। अपनी काव्यमीमांसा में उसने समकालीन भौगोलिक परिस्थितियों की विस्तृत जानकारी दी है। उसने मध्यदेश की वही परिभाषा बतलाई है जो मनुस्मृति में दी गयी है, अर्थात् पूर्व में प्रयाग तक, पश्चिम में विनशन तक उत्तर में हिमालय तक और दक्षिण में विन्ध्याचल तक। मध्यदेश का अभिमानी यह कवि मध्यदेश के कवियों को तत्कालीन सभी भाषाओं का पण्डित बतलाता है। उसने लिखा है कि "गौड (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशीयों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टाक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब) और भादानक के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चम्बल का निकास) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश में (कन्नौज, अन्तर्वेद, पांचाल आदि) रहता है, वह सर्वभाषाओं में स्थित है* ।"

राजशेखर

विक्रमी बारहवीं शताब्दी में सोमदेव ने मध्यदेश में ही कथा सरित्सागर लिखा था। उसमें विक्रमादित्य के सेनापति विक्रम शक्ति द्वारा की गयी दिग्विजय में दक्षिणापथ सौराष्ट्र, मध्यदेश, बंग और अंग सहित पूर्वदेश के जीतने का उल्लेख है। उत्तर में केवल काश्मीर और कोबेरीकाष्ठा का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार कथासरित्सागर में सोमदेव का आशय जिस मध्यदेश से था वह सौराष्ट्र के पूर्व में, बंग, अंग और पूर्वदेश के पश्चिम में, दक्षिणापथ के उत्तर में तथा काश्मीर के दक्षिण में था। सन १३०४ ई० में मेरुतुंगाचार्य ने प्रबन्धचिन्तामणि लिखा। उसमें भारत के अनेक प्रादेशिक विभागों के नाम आए हैं।

सोमदेव और मेरुतुंग

---

* चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिंदी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८ पृष्ठ १० पर उद्धृत।

मध्यदेश का नाम उसमे प्रसगवश दो बार आया है * । साथ ही गुर्जर, मालव, मरुदेश, महाराष्ट्र, नालाक, तिलग आदि प्रदेशो का भी उल्लेख है परन्तु इस ग्रथ से मध्यदेश की सीमाऍ ज्ञात नहीं होतीं। ज्ञात केवल यह होता है कि मध्यदेश के जादूगर उस समय गुर्जर राज की सभा में थे और यहॉ कुछ विश्रुत विद्वान भी थे।

मध्यकाल में सैकडो ऐसे ग्रथ लिखे गये जिनमें विविध प्रसगो से देश की प्रादेशिक सीमाओ का उल्लेख किया गया है। देश के प्रत्येक भाग की बोलियॉ, रहन सहन, रीति रिवाज, आचार-व्यवहारो पर भी इन पुस्तको म प्रकाश डाला गया है। कुवलयमाला बोलियो की जानकारी देते हुए बतलाती है 'तेरे मेरे आउत्ति जम्पिरे मध्यदेसेय (मध्यदेश म बोलते है 'मेरे तेरे आउति') । कामशास्त्र की पुस्तको में प्रादेशिक विभागो की रमणियों का वर्णन किया गया है। ग्वालियर के राजा कल्याणसिंह तोमर (सन् १४७६ ई०) ने अनगरग नामक एक काम शास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। उसम सबसे प्रथम मध्यदेश की रमणियो का वर्णन किया गया है तथा उसके पश्चात मालव, गुर्जर, लाट, कर्नाटक आदि की स्त्रियो का। उसने मध्यदेश की रमणियो को विचित्रवेषा, शुचि, कर्मदक्षा एव सुशीलिनी आदि कहा है। इन समस्त प्रसगो की सारिणी देना यहॉ न तो बहुत उपयोगी ही होगा न उचित ही। आशय केवल यह है कि मध्यदेश की एक सास्कृतिक इकाई के रूप म स्पष्ट कल्पना मध्यकाल म दिखाई देती है।

कल्याणसिंह का अनगरग तथा अन्य ग्रन्थ

ईसवी सोलहवीं शताब्दी का मध्यदेश सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख महाकवि केशवदास का है। केशवदास ने न केवल मध्यदेश का स्मरण किया है, वरन् भारतभूमि की सास्कृतिक परम्परा में जो कुछ भी श्रेष्ठ है उसको इसी मध्यदेश म निहित माना है। बेतवा मे उन्हे गगा की पावनता दिखाई दी, यहॉ के

केशवदास

* हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रबन्ध चिन्तामणि पृष्ठ ४५ तथा ८७

नागरिकों की भाषा, धर्म, वेशभूषा सभी का उनके द्वारा अभिनन्दन हुआ। कविप्रिया (सन् १६००—१६०१ ई०) में केशवदास ने लिखा—

आछे आछे असन, वसन, बसु, बासु, पसु
दान, सनमान, यान, बाहन बखानिये ।
लोग, भोग, भाग, भाग, बाग, राग, रूपयुत,
भूषननि भूषित सुभाषा मुख जानिये ।
सातो पुरी, तीरथ, सरित सब गंगादिक
केसोदास पूरण पुराण गुन गानिये ।
गोपाचल ऐसे गढ, राजा रामसिंह जू से,
देशनि की मणि, महि मध्यदेश मानिये ।

केशवदास ने मध्यदेश को 'देशों की मणि' कहा है। उन्हों ने उसके निवासियों के मुख में 'सुभाषा' का वास बतलाया है। परन्तु उनके द्वारा म यदेश की सीमाएँ नहीं दी गयी, केवल यह संकेत किया गया कि उसके अन्तर्गत बुन्देला रामसिंह का राज्य है और गोपाचल जैसा गढ़ है। इस 'सुभाषा' से उनका क्या आशय था और उत्तर में गोपाचल तक जाकर ही वे क्यों रुक गये, ये दोनों बातें ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम में तो मध्यकाल के भाषा के केन्द्र का रहस्य छिपा है और दूसरे में छिपा है मध्यकाल के उन विचारकों के रोष का रहस्य जो भारत भूमि और हिन्दू संस्कृति को नष्ट होने से बचाना चाहते थे। मध्यदेश की परम्परा के प्रसंग में इस दूसरे प्रसग पर विचार करना उचित नहीं। यहाँ केशवदास की सुभाषा पर ही विचार करेंगे।

केशवदास ओड़छे के थे, यद्यपि उनके पुरखे दिल्ली के तोमरों की राज-सभा में तथा फिर अलाउद्दीन खिलजी के आश्रय में भी कुछ समय तक रहे थे, फिर भी उनके निकट के पूर्वज ग्वालियर में आश्रय पा चुके थे, अतएव उनकी साक्षी को पक्षपातपूर्ण कहा जा सकता है। किंतु इस सुभाषा के रहस्य का उद्घाटन आलमगीर औरंगजेब के कास्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला

फकीरुल्ला सैफखा का मध्यदेश — सुदेश

सैफखाँ ने सन् १६६६ ईसवी में किया जब उसने मानसिंह तोमर लिखित मानकुतूहल का अनुवाद पारसी में किया। फकीरुल्ला लिखता है कि मानसिंह तोमर द्वारा प्रवर्तित ध्रुपद के पद देशीभाषा में लिखे जाते थे। यह इन पदों की देशीभाषा के क्षेत्र को सुदेश कहता है। इस सुदेश की सीमाओं का वर्णन करते हुए वह लिखता है "सुदेश से मतलब है ग्वालियर से, जो आगरा के राज्य का केन्द्र है और जिसके उत्तर में मथुरा तक, पूर्व में उन्नाव तक, दक्षिण में ऊंज (?) तक तथा पश्चिम में बारां तक है। भारतवर्ष में इस बीच की भाषा सबसे अच्छी है। यह खंड भारत में उसी प्रकार है जिस प्रकार ईरान में शीराज*।"

फकीरुल्ला अपने कट्टर मालिक के समान ही हिन्दुओं का अत्यधिक विरोधी था और उन कटु उद्गारों को उसने मानकुतूहल के अनुवाद में भी यत्रतत्र प्रकट किया है। वह इस्लाम, फारस और फारसी का हिमायती था। उसने मध्यदेश की तुलना की है हाफिज और शेखसादी की जन्मस्थली शीराज से। फकीरुल्ला को न मध्यदेश से लगाव था न ग्वालियर से। ग्वालियर की दुर्दशा का कारण तो मुगल ही थे। उनके द्वारा गोपाचल गढ़ का उपयोग शाही कैदखाने के रूप में किया गया था। फिर जब फकीरुल्ला इस प्रकार के कथन करता है तब निश्चय ही वह अपने समय के सर्वमान्य तथ्य को प्रकट करता है यह मानना पड़ेगा। उसके साक्ष्य पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसके समय (सन १६६६ ई०) तक मध्यदेश और उसमें भी ग्वालियर की भाषा को टकसाली माना जाता था तथा केशवदास ने जब यहाँ के निवासियों को सुभाषा युक्त कहा तब पक्षपात की बात नहीं कही थी। असन, वसन, भूषण आदि की श्रेष्ठता का कथन कर केशवदास ने मध्यदेश के भारत के सांस्कृतिक केन्द्र होने की ओर जो संकेत किया है उसकी निर्विवाद पुष्टि भी फकीरुल्ला द्वारा की गयी है।

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६१।

बीकानेर के राजा अनूपसिंह (सन् १६७४ १७०१) के आश्रित भावभट्ट ने अनूपसंगीतरत्नाकर नामक संगीत का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें मध्यदेश के ध्रुपद का उल्लेख है। ईसवी अठारहवीं शताब्दी में लिखे गये इस ग्रन्थ का ध्रुपद सम्बन्धी यह उल्लेख इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसको पूरा हम आगे उद्धृत करेंगे। इससे मध्यदेश, मध्यदेश की भाषा, उसके संगीत तथा साहित्य की परम्परा पर विशेष प्रकाश पड़ता है। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि ईसवी सत्रहवीं शताब्दी के संगीत-ग्रन्थों में मध्यदेश और उसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ स्पष्ट रूप से मान्य थीं।

भावभट्ट

सन् १६४३ ई० में मध्यदेश के एक निवासी बनारसीदास जैन ने अपना आत्मचरित्र अर्धकथानक नाम से लिखा था। उसमें मध्यदेश का उल्लेख करते हुए उसने लिखा—

बनारसीदास जैन

> यही भरत सुखेत में मध्यदेश शुभ ठाउ।
> बसै नगर रोहितिगपुर, निकट बिहौली गाउ।।

बनारसीदास आगे आगरा, मेरठ आदि स्थानों में भी रहे, अवश्य उनका मध्यदेश से आशय इन्हीं प्रदेशों से होगा।

बुन्देला महाराज छत्रसाल (सन् १७३१ तक) के प्रताप का वर्णन करते हुए किसी अज्ञात कवि ने जो पद्य लिखा था, उसे आज तक लोग भूल नहीं सके हैं। उसने लिखा है—

बुन्देलों का क्षेत्र

> इत जमना उत नर्मदा,
> इत चम्बल उत टौंस।
> छत्रसाल सों लरन की
> रही न काहू हौंस।

यह छत्रसाल के प्रभाव-क्षेत्र का ही वर्णन नहीं है, इसमें उस सांस्कृतिक इकाई का भी उल्लेख निहित है जिसकी सीमाएँ मनुस्मृति से फकीरुल्ला के समय तक बहुत कुछ सुनिश्चित थीं। इस पद्य में वह सीमा कुछ संकुचित कर दी गयी है, क्योंकि इसका मूल उद्देश्य

छत्रसाल की तलवार की धाक की सीमाओं का उल्लेख करना मात्र था।

अफगानों और मुगलों का सर्वग्रासी शासन जिस मध्यदेश की परम्परा को छिन्नभिन्न न कर सका, उसे अंग्रेजो के समय में नष्टभ्रष्ट कर दिया गया। पिछले मुगलो के समय मे ही मध्यदेश के बहुत बडे अ श पर मराठो का राज्य हो गया। राजपूतों के राज्य अत्यन्त सकुचित दायरो मे स्थापित हो गये। अंग्रेजो के राज्य काल मे उनके द्वारा जो प्रान्त रचना हुई, वह किसी सास्कृतिक आधार पर न होकर सैनिक एव शासकीय सुविधाओ को देखकर हुई। इस प्रकार मध्यदेश के कुछ अ श उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश म समा गये, उसके बहुत बडे अ श पर सिन्धिया और होल्कर का कब्जा हो गया, भोपाल मे नवाब की हुकूमत हुई और सैकडो राजपूतो के राज्य यत्रतत्र बन गये। परिणाम यह हुआ कि यह सोचना भी कल्पनातीत हो गया कि आज छिन्नभिन्न रूप मे विध्वस्त यह भू भाग कभी एक सुदृढ सास्कृतिक इकाई था तथा यहाँ की सास्कृतिक परम्पराएँ समस्त भारत को प्रकाश देती थीं।

मध्यदेश का विघटन

इस विषय के राजनीतिक अथवा प्रादेशिक पहलू से हमारा यहाँ उतना सम्ब ध नही है, जितना हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के इतिहास से है। मध्यदेश की परम्परा के ओझल हो जाने के कारण हिन्दी के विकास की परम्परा के निरूपण मे भी कुछ विचित्र भ्रान्तिया फैल गयी। परवर्ती राजनीतिक परिवर्तनो का प्रभाव सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन पर कितना व्यापक होता है, उसका प्रमाण मध्यदेश का इतिहास है। मध्यदेश और उसके मध्यकालीन केन्द्र ग्वालियर द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण म—सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, तथा स्थापत्य को नवीन दिशाएँ देने मे जो योगदान दिया गया, मध्यदेश के साथ ही आज का इतिहासज्ञ उसे भी भूल गया। जहाँ की भाषा एक प्रदेश की भाषा के रूप मे विकसित होकर राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रयुक्त

भाषा के विवेचन पर प्रभाव

हुई, उस भाषा के, परिष्कृत काव्यभाषा के, समग्र रूप पर विचार करने के स्थान पर उसने उस प्रदेश के मौलिक एकरूप को ही बुन्देलखण्डी, मारवाड़ी, मालवी, कन्नौजी, ब्रज आदि बोलियों के खंडित रूपों में परखने की परम्परा डाल दी। उस प्रदेश के एक कोने में कुछ विशिष्ट कारणों से सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में इस सीमित क्षेत्र की बोली को दिये गये ब्रजभाषा नाम से उसका समस्त साहित्य सम्बोधित किया जाने लगा, और यह तो अब कितनों को ज्ञान है कि इस समस्त प्रदेश की भाषा का नाम ही कभी ग्वालियरी भाषा था—समस्त भारत देश में मान्य और प्रतिष्ठित।

मध्यदेश और ग्वालियर

भाषा-विकास के इतिहास में देखा यह जाता है कि बोलियों को नवीन रूप जनपदों में मिलता है। किसी जनपद विशेष में सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित होने पर वह बोली साहित्य का माध्यम बनने लगती है और भाषा का रूप धारण कर लेती है। हिन्दी ने अप-

भाषा का केन्द्र

भ्रंश का साथ छोड़ कर जब संस्कृत-परक भाषा का रूप ग्रहण किया तब उसके विकास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया था। हिन्दी भाषा द्वारा यह नवीन रूप मध्यदेश में ग्रहण किया गया था, इसके लिए विशेष तर्क और तथ्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी के नवीन रूप-ग्रहण में कन्नौज, महोबा, दिल्ली, अजमेर, जयपुर, ओड़छा, नरवर आदि के साथ ग्वालियर का विशेष योग रहा। अन्य भाषाओं के विषय में कुछ लिखना अनावश्यक है, हिन्दी के विषय में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसे काव्य-भाषा का रूप राजसभाओं और धार्मिक संस्थानों में मिला है। इन दोनों के आश्रय में ही मध्यकाल में संगीत चला। संगीत के लिए प्रस्तुत हुए गेय पदों ने भाषा के स्वरूप का मार्जन किया। हिन्दी का विकास संगीत से ही हुआ है। इस विषय का विवेचन तो आगे करेंगे, यहाँ केवल यह देखना है कि मध्यदेश में यह भाषा निर्माण का कार्य कहाँ हुआ अथवा किस स्थल के भाषा-प्रयोगों को परिनिष्ठित मान्य रूप में ग्रहण किया जाता था।

इसके लिए हम पुनः, फकीरुल्ला ने सुदेश अथवा मध्यदेश की जो परिभाषा की है, उसकी ओर ध्यान आकृषित करना चाहते हैं। इसमें

फकीरुल्ला ने मध्यदेश का सांस्कृतिक केन्द्र ग्वालियर माना है। इस सूत्र को पकड़कर पाँच-छह शताब्दियों के ग्वालियर सम्बन्धी उल्लेखों पर विचार करने पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले जा सकते हैं। यह कार्य सरल नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य का बहुत बड़ा अंश नष्ट हो गया है। जो शेष बचा है, उसमें से भी प्रकाशित तो सम्भवतः एक शतांश भी नहीं हुआ, सब हस्तलिखित रूप में ही पड़ा है। इस महासमुद्र में से एक स्थान पर बैठ कर कोई भी अन्वेषण कर सकना सम्भव नहीं। परन्तु जो कुछ उल्लेख अभी तक हमारी दृष्टि में आ सके हैं, वे एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हैं।

फकीरुल्ला का सूत्र

अजमेर के नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासो की रचना सन् ११५५ ई० में की थी*। उसमें प्रसंगवश ग्वालियर का उल्लेख किया गया है। नरपति नाल्ह ने अपने चरितनायक बीसलदेव की रानी के मुख से कथन कराया है—

बीसलदेव रासो

पूरव देश को पूरब्या लोक।
पान पूला तणउ लहइ भोग॥
घणा सचई बुकस भखई।
अति चतुराई राजा गढ ग्वालेर॥
गौरडी जैसलमेर की।
मोगी लोक दखिण को देस॥

नरपति ने 'पूरब' अथवा 'दखिण' के लिए जो कहा है, वह यहाँ अप्रासंगिक है। केवल उल्लेखनीय यह है कि बारहवीं शताब्दी का यह गायक ग्वालियर की चतुराई से प्रभावित था।

हर्ष के साम्राज्य की राजधानी कन्नौज थी, परन्तु उसके साम्राज्य में

---

* सत्यजीवन वर्मा बीसलदेव रासो, पृष्ठ ६।

भी ग्वालियर का महत्त्व कम नहीं था। उस साम्राज्य की सांस्कृतिक परम्पराओं को ग्वालियर में आत्मसात किया गया था। हर्ष के साम्राज्य के विघटन के पश्चात अनेक शक्तियाँ मध्यदेश में उदय-अस्त होती रहीं। उन राजशक्तियों में महोबा-कालिंजर के चन्देल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में बहुत ऊँचे मान स्थापित किये गये। ग्वालियर पर चन्देलों का राज्य बहुत समय तक रहा। ईसवी दसवीं शताब्दी में यशोवर्मन चन्देल के पुत्र धंग की राज्यसीमा में मध्यदेश का लगभग सभी भूभाग आगया था। उसमें बेतवा के किनारे स्थित भेलसा से कालिंजर तक तथा यमुना से चेदि तक का भूप्रदेश था। इसमें ग्वालियर भी था। धंग के सन ६५३ ईसवी के एक शिलालेख* में यह सीमा दी हुई है और उसमें ग्वालियर को 'विस्मय निलय' कहा गया है। आगे परमार्दिदेव (सन् ११६५ ई०) के राजकवि जगनायक या जगनिक ने अपने आल्हखंड में ग्वालियर का उल्लेख कुछ इसी भाव से किया है। चंदेलों के राज्य में केवल दो ही स्थान ऐसे थे जिनकी माँग कोई कर सकता था, एक तो कालिंजर का किला और दूसरा ग्वालियर की बैठक। जगनिक ने आल्हखण्ड में लिखा—

जगनायक

> किला कालिंजर को मागत है,
> बैठक मागै ग्वालियर वयार।

सुदृढ़ रूप से जमकर राज्य किया जा सके इसके लिए कालिंजर गढ़ आवश्यक था और संगीत-काव्य का रसपान किया जा सके, इसके लिए ग्वालियर की बैठक आवश्यक थी।

ईसवी तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी तक दिल्ली, कालिंजर और कन्नौज सभी आपस में लड़झगड़ कर और अन्ततोगत्वा मुसलमानों की अदम्य शक्ति से टकराकर छिन्नभिन्न हो गये। इन विपत्तियों

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ २८।

के बीच ग्वालियर के तोमर और गढकुंडार-ओड़छा के बुन्देले स्वतंत्र अथवा अर्ध स्वतंत्र रूप में अपना अस्तित्व बनाए रहे।

तोमर और हिन्दी

ग्वालियर में नवस्थापित तोमर राज्य को पूर्ववर्ती प्रतिहार, परमार, चन्देल, बुन्देल, कछवाहा तथा चौहान आदि राजपूतों की सांस्कृतिक परम्पराएँ मिलीं, साथ ही जैन साधुओं के सम्पर्क से उनके द्वारा किये गये सांस्कृतिक विकास से भी उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। तोमरों का संधि विग्रह का सम्बन्ध जौनपुर, दिल्ली तथा मांडू के सुल्तानों से भी रहा। इस प्रकार इनके समय में ग्वालियर साहित्य, संगीत तथा कलाओं का केन्द्र बन गया। जैनों द्वारा अपभ्रंश की परम्परा इनके दरबार में पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। उसके माध्यम से अपभ्रंश का अत्यन्त समृद्ध दोहा साहित्य तथा स्वयंभू एवं पुष्पदन्त जैसे महाकवियों की रचनाओं से ग्वालियर का संपर्क हुआ। अनेक शैव एवं वैष्णव पंडितों ने संस्कृत के साहित्य को पोषित किया, सुल्तानों के सम्पर्क ने उनके संगीत और साहित्य को विशद दृष्टिकोण दिया। जो कार्य समस्त मध्यदेश में भाषा के निर्माण का विभिन्न माध्यमों से प्रारम्भ हुआ था, उसे अत्यन्त परिष्कृत रूप तोमर-सभा में मिल सका। इस साहित्यिक समृद्धि का विवेचन हम अन्यत्र करेंगे, केवल यह उल्लेख मात्र कर देना यहाँ पर्याप्त है कि ईसवी पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब तक कि विक्रमादित्य तोमर का राज्य-काल समाप्त नहीं हुआ, ग्वालियर इतनी सांस्कृतिक ख्याति प्राप्त कर चुका था कि उसके द्वारा हिन्दी भाषा को नवीन नाम मिला और उसकी प्रतिध्वनि सुदूर दिल्ली, जैसलमेर और दक्षिण में अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक सुनाई देती रही।

दक्षिण में हिन्दी जिस प्रकार पहुँची, इसके विषय में भी आगे विचार करेंगे, यहाँ केवल दक्षिण के प्रसिद्ध कवि वजही के ग्वालियर सम्बन्धी उल्लेखों पर विचार करना है। वजही ने सन् १६०० ई०

में लगभग अपना गद्यकाव्य 'सबरस' लिखा था। जिस समय तक उत्तर भारत में गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास राम कृष्ण काव्य की गंगा यमुना प्रवाहित कर चुके थे और मुगल दरबार के नौरतनों की जगमगाहट समस्त भारत में अपनी ज्योति फैला चुकी थी, उस समय वजही को स्मरण रहा उत्तर भारत का ग्वालियर। वजही ने लिखा—

वजही

"तमाम मुसहिफ का माना अलहम्दलिल्ला में है मुस्तकीम और तमाम अलहम्दलिल्ला का माना बिस्मिल्लाह् में है और तमाम बिस्मिल्लाह का माना बिस्मिल्लाह् के नुक्ते में रख्खा है करीम, समजा देक खातिर लिया अताले हदीस नी यूँ आया है अल इल्म नुक्ते व कसरहा जुहाल याने इल्म एक नुक्ता है, जाहिलों ने उसे बढे, जहालत को इस हद लेकिन लिया है होर फारसी के दानिशमन्दाँ जिनों समजते हैं बातों के वन्दों उनों यूँ भाया है, उनो में बीयूँ आया है, फाका के बसस्त इक हर्फ बसस्त। होर गवालियर के चातरों, गुन के गुरों उनो बी बात को बोले है के एक ही अख्छर पढे सो पण्डित होय*।"

श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'सबरस' की एक दूसरी प्रति से कुछ दोहे उद्धृत किये हैं†। एक स्थान पर वजही ने लिखा है —

होर ग्वालेर के चातुरा गुन के गुरा या बोने हैं —

पोथी थी सो खाटी भई पण्डित भया न कोय।
एकै अक्खर प्रेम का पढ़ै सु पण्डित होय॥

दूसरे स्थान पर उसने लिखा है —

होर ग्वालेर के सुजान यो बोलते हैं जान

---

* श्रीराम शर्मा दक्खिनी का पद्य और गद्य पृष्ठ ४०३।

† राहुल सांकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १६५१, पृष्ठ १६७।

दोहरा

धरती म्याने बीज धर, बीज बिखर कर बोय।
माली सींचे सिर घड़ा, रत आए फल होय॥

तीसरे स्थान पर वह फिर लिखता है :—

जहां लगन ग्वालेर के हैं गुनी, उनों ते बी यो बात गई है सुनी :—

जिनको दरसन इत्त हैं, तिनको दरसन उत्त।
जिनको दरसन इत नही, तिनको इत्त न उत्त॥

इसके अतिरिक्त और दोहों के सम्बन्ध में ग्वालियर का नाम वजही ने नहीं लिया, परन्तु उनकी भाषा वही है जो ऊपर के दोहों की है :—

सात सहेली एक पिउ चउधर पिउ पिउ होय।
जिन पर पिउ का प्यार है, सो धनि बिरली कोय॥
सीउ सत्त न छाड़िये सत छोड़े पत जाय।
लछमी सत की दासि है, पग लगै कर थाय॥

इस्लाम का कट्टर प्रचारक वजही इन उद्धरणों में ग्वालियर के चतुरों, गुणों के गुरुओं की वाणी को इस्लाम के अत्यन्त मान्य ग्रन्थ हदीस के समान ही प्रामाणिक मानता है, वह भी उस समय जब ग्वालियर में कुछ अधिक शेष नहीं रह गया था। इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। उत्तर के फकीरुल्ला और दक्षिण के वजही को ग्वालियर से लगाव होने का कोई कारण नहीं हो सकता था। इसका कारण था ग्वालियर की चार शताब्दियों की भारतीय साहित्य और संगीत की सेवा, जिसके कारण वह उस समय राजनीतिक महत्त्व खोकर भी सांस्कृतिक केन्द्र माना जाता था। वजही ने सबरस में 'गवालियर के चातुरां गुन के गुरां' का स्मरण सुजान तथा गुणी के रूप में किया है और उनके दोहों को प्रमाण रूप में दिया है। वास्तव में यह स्तवन ग्वालियर का न होकर उस शालीन सांस्कृतिक वैभव का है जिसके रूप में पूर्व-मध्यकालीन मध्यदेश ने भारत की श्रेष्ठतम परम्पराओं का रूप-निर्माण कर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के ग्वालियर को आगे

बढ़ाने के लिए दे दिया था। ग्वालियर ने उसे परिष्कृत हिन्दी भाषा द्वारा दोहे, चौपाई, गेय पद आदि के रूप मे निखार दिया।

यहाँ हम किसी प्रदेश या नगर विशेष की प्रशस्ति लिखने नहीं बैठे है। मध्यदेश और ग्वालियर के अनेक उल्लेखों में से कुछ हमने इस आशय से प्रस्तुत किये है कि हिन्दी के मध्यकालीन विकास की धारा के प्रवाह का मार्ग मिल सके और वह कारण भी प्रत्यक्ष हो सके जिसके आधार पर अनेक शताब्दियों तक हिन्दी का नाम ही ग्वालियरी भाषा रहा और उसे वह समर्थ रूप मिला जो समस्त भारत में फैल सका और जिसमें सूरदास के सूरसागर तुलसीदास के राष्ट्र-प्रेरक जीवन-साहित्य तथा केशवदास के पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना सम्भव हो सकी और मिल सके बिहारी जैसे रससिद्ध कवि।

ग्वालियरी भाषा

हिन्दी की प्राचीन नाम परंपरा

संस्कृत, पाली और प्राकृत के पश्चात ईसवी सातवीं शताब्दी में जिस काव्य-भाषा का विकास होना प्रारंभ हुआ उसे संस्कृत के विद्वानों ने अपभ्रंश कहा, क्योंकि न तो वह संस्कृत के व्याकरण को ही मानती थी और न किसी भी दशा में एक भी तत्सम शब्द के प्रयोग को स्वीकार करती थी। संस्कृत के पंडितों की दृष्टि में उसके इस अतिभ्रष्ट रूप को देखकर ही उसे अपभ्रंश नाम दिया गया। अपभ्रंश के कवियों ने इसे देशी भाषा कहा है। अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू (७९० ई०) ने लिखा है :—

अपभ्रंश और देशी भाषा

देसी भासा उभय तडुज्जल । कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल ॥

विद्यापति ने कीर्तिलता की अपभ्रंश-मिश्रित लोक-प्रचलित भाषा का नाम अवहट्ठ दिया है :—

अवहट्ठ

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जंपओ अवहट्ठा ॥

देशी भाषा सब को मीठी लगती है, इसलिए इस देशी भाषा में उसे अपभ्रंश-अवहट्ट नाम देकर विद्यापति ने कीर्तिलता लिखी। काव्य-भाषा के रूप में उसका विस्तार उत्तरापथ में मुल्तान, गुजरात, मध्यदेश, बिहार तथा बंगाल में था। अपभ्रंश के इन कवियों ने दक्षिणापथ में बैठकर अपने महाकाव्यों की रचना की। इन रचनाओं की भाषा को कुछ विद्वान हिन्दी ही मानते हैं और कुछ हिन्दी का पूर्व रूप*। यह बात निश्चित है कि हिन्दी भाषा अपने व्याकरण के नियम संस्कृत, पाली और प्राकृत से न लेकर इस देशी भाषा या देशी वाणी से लेती है।

---

* राहुल सांकृत्यायन: हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ठ १।

इस देशी भाषा—अपभ्रंश से विकसित होकर जिस भाषा का रूप निर्माण प्रारम्भ हुआ, उसे व्यापक रूप से 'भाषा' कहा गया। जो रचना संस्कृत में नहीं, वह भाषा की रचना है। अपनी वाणी सर्वसाधारण तक पहुँचाने की जिस इच्छा के कारण पाली, प्राकृत एव अपभ्रंश में रचनाएँ प्रारंभ हुई थीं, उसी प्रवृत्ति के कारण इस 'भाषा' म रचनाएँ प्रारम्भ हुईं। संस्कृतनिष्ठ

भाषा

हिन्दी के निर्माताओं की दृष्टि अब देववाणी संस्कृत की ओर फिर गयी थी, अत संस्कृत में अपने ग्रंथ न लिखने की उनके द्वारा सफाई भी दी गयी। ग्वालियर के गोस्वामी विष्णुदास (१४३५ ई०) ने अपने रुक्मिणी मगल में लिखा —

तुछ मत मोरी थोरी सी चौराई, भाषा काव्य बनाई।

गोस्वामी तुलसीदास (१५७४ ई०) ने रामचरित मानस में लिखा —

भाषा भनित मोर मति भोरी। हँसिवे जोग हँसे नहिं खोरी॥

केशवदास को तो भाषा कवि कहलाने मे घोर परिताप हुआ। अपनी कविप्रिया (१६०० ई०) मे वे लिखते हैं —

भाषा बोलि न जानही जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति तेहि कुल केशवदास॥

विष्णुदास, केशवदास और तुलसीदास के ये उद्‌गार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के पश्चात संस्कृत की ओर बढते हुए आकर्षण पर प्रकाश डालते हैं। ये कवि रचना देशी भाषा मे करते थे, परन्तु इनकी दृष्टि में आदर्श वह वाणी थी जो अब केवल देववाणी रह गयी थी, जन साधारण में से उसका प्रचार उठ चला था।

भारत में जब मुसलमान आए और उन्हें अपनी धर्म भाषा अरबी-फारसी छोड कर इस देश की भाषा मे रचनाएँ करनी पडीं, तब उन्हें भी एक प्रकार का असमंजस हुआ था। संस्कृत के हिमायती हिन्दू साहित्यकारों द्वारा जन भाषा को दिया गया 'भाषा' नाम, उनकी विवशता की भावना के साथ साथ इन मुसलमान लेखकों को भी मिल गया,

अतएव इन्होंने इसे प्रारम्भ में 'भाषा' ही कहा है। जायसी (१५२७ ई०) ने लिखा है :—

आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥

शेख निसार (१७६० ई०) ने अपने प्रेमाख्यान यूसुफ-जुलेखा में लिखा है* :—

सब भाषा गह कथा सोहाई। बरनन भाँति-भाँति करवाई॥
इबरी औ अरबी सुरबानी। पारस और तुर्की मिसरानी॥
भाषा मा काहू ना भाखा। मोरे अस दइब लिखि राखा॥
सो अब कथा कहौं चितलाई। जेहि सन मोख मुकुति होइ जाई॥

जिस प्रकार केशवदास के लिए संस्कृत देवभाषा थी, उसी प्रकार शेख निसार के लिए हिब्रू और अरबी देवभाषाएँ थीं। इसी कारण आगे इन सूफी संतों ने भी 'भाषा' में रचना करने की सफाई दी। नूरमुहम्मद (१७४४ ई०) ने लिखा:—

का जो अहइ हिन्दुई भाषा। उत्तम भेद बहुत मैं राखा॥

वाणी तो यह ही है जिसे हिन्दू 'भाषा' कहते हैं, परन्तु भावना दूसरी है। यह तथ्य समझने में कोई भ्रम न हो जाय, इसलिए उसने यह भी लिख दिया† :—

जानत है सब सिरजन हारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू मग पर पाव न राखेऊं। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेऊं॥
मन इसलाम मसलकै माजेऊं। दीन जेंवरी करकस भाजेऊं॥

मध्यदेशीया अपभ्रंश

हिन्दुओं के लिए संस्कृत-सापेक्ष तथा मुसलमानों के लिए अरबी-फारसी सापेक्ष इस 'भाषा' नाम के अतिरिक्त मध्यकालीन हिन्दी की एक दूसरी नाम-परंपरा भी है, जिसका सम्बन्ध हिन्दी के अपभ्रंश से विकसित होने

---

* गणेशप्रसाद हिन्दी प्रेमाख्यानकाव्यसंग्रह, पृष्ठ ३३३।
† चन्द्रवली पांडे : अनुराग बासुरी, पृष्ठ ५।

के ऐतिहासिक तथ्य से है। ई० ७७८ में रचित कुवलयमाला मे 'मध्यदेशीया' नामक एक अपभ्र श का उल्लेख है । प्राकृत-सर्वस्व और प्राकृत-चन्द्रिका मे भी यह नाम आता है ।

मध्यदेश की भाषा—बनारसीदास जैन

श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि कुवलयमाला में निर्दिष्ट मध्यदेश की भाषा से हिन्दी भाषा का उद्गम हुआ ज्ञात होता है*। नाहटा जी के मत की पुष्टि एक अन्य तथ्य से भी होती है। हिन्दी के लिए यह 'मध्यदेश की भाषा' नाम ईसवी सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक मिलता है। ई० १६४३ में रचित 'अर्ध कथानक' मे बनारसीदास जैन ने लिखा है†.—

मध्यदेश की बोली बोलि। गर्भित बात कहौं जी खोलि ॥

'मध्यदेश की बोली' नाम अपने साथ उस मध्यदेशीया अपभ्र श की परपरा को लिये हुए है जिसका उल्लेख कुवलयमाला में किया गया है। हिन्दी के मध्यदेश में ही रूप ग्रहण करने की द्योतक यह परम्परा

भावभट्ट

ईसवी अठारहवीं शताब्दी तक मिलती है। बीकानेर के सगीत शास्त्र के पडित भावभट्ट ने लगभग सन् १७०० ईसवी मे अपने ग्रथ अनूपसगीतरत्नाकर की रचना की और उसमे ध्रुपद का लक्षण लिखते हुए उसने कहा है.—

गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।

ध्रुपद का जन्म ग्वालियर मे हुआ था और उसके पदों मे प्रयुक्त मध्यदेशीय भाषा को भी परिष्कृत काव्य भाषा का रूप इन्हीं ध्रुपद के पदों में मिला था, इसका विवेचन हम आगे करेंगे। भावभट्ट के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि उसके समय तक मध्यदेश तथा उसके सगीत,

---

* राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, द्वितीय भाग, पृष्ठ २।

† नाथूराम प्रेमी . अर्धकथानक पृष्ठ २।

भाषा एवं साहित्य अपना पृथक् निजत्व लिये हुए थे। हिन्दी अपने मूल नाम मध्यदेशीय भाषा को भी ग्रहण किये रही।

शौरसेनी भाषा

अपभ्रंश से देश-भाषाओं के विकसित होने के इतिहास में शौरसेनी अपभ्रंश का महत्त्व प्रत्यक्ष है। शौरसेनी अपभ्रंश को ही हेमचन्द्र सूरि ने अपने व्याकरण में प्रधान स्थान दिया है। यह शौरसेनी मूल में किस प्रदेश की जनवाणी थी, यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं। हेमचन्द्र के समय तक उसे व्यापक काव्य-भाषा का रूप मिल गया था। शौरसेनी से ही आगे गुजराती, सिन्धी, मारवाड़ी*, हिन्दी, पंजाबी एवं पहाड़ी भाषाओं का विकास हुआ†। इस शौरसेनी के विस्तृत क्षेत्र में ही मध्यदेश स्थित था और उसी का एक रूप मध्यदेशीया अपभ्रंश थी जो आगे चलकर हिन्दी के रूप में विकसित हुई। ईसवी अठारहवीं शताब्दी में इस ऐतिहासिक परम्परा का भी स्मरण रखा गया। पूना के पेशवाओं के अधीन शिन्दे राज्य का उत्तरभारत में विस्तार करने वाले माधवराव प्रथम, महादजी शिन्दे, (१७३२-१७९४ ई०) ने हिन्दी में पद रचना की थी। मथुरा नगर महादजी का अत्यन्त प्रिय वासस्थान था‡। वे परम कृष्णभक्त भी थे। उनका पदसंग्रह 'माधव विलास' के नाम से मिला है। इसकी पुष्पिका में लिखा है:—

"इति श्रीमन्महीन्द्र माधवराव सार्वभौम विरचित शौरसेनी भाषायां श्रीकृष्णजन्मोत्सव वर्णन परिपूर्ण"¶।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश, अवहट्ट, भाषा, देशीभाषा, मध्यदेशीय भाषा तथा शौरसेनी भाषा नाम हिन्दी के विकास के

---

* कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी : माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, पृष्ठ १२।

† डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ४८।

‡ डॉ० सत्येन्द्र : ब्रज-लोक-संस्कृति, पृष्ठ १६४।

¶ भा० रा० भालेराव द्वारा संपादित, पृष्ठ ९१

प्रारभिक इतिहास की व्यजना करते है। इस इतिहास की स्मृति पडितो में अठारहवीं शताब्दी तक स्पष्ट दिखाई देती है।

ग्वालियरी भाषा

अत्यन्त आधुनिक काल मे भी सस्कृत अथवा फारसी के पडित इन नामों का व्यवहार करते दिखाई देते है। हिन्दी भाषा का इतिहास यह बतलाता है कि प्राकृत अपभ्रंशों की छाया से हिन्दी ईसवी ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी तक मुक्त हो चली थी। उसके पश्चात इसके उस रूप का निर्माण प्रारभ हो गया था जो सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही उन महान काव्यो का माध्यम बना, जिनके कारण हिन्दी गौरवान्वित हुई। हिन्दी को यह रूप पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर से किस प्रकार मिला इसका विवेचन हम आगे करेंगे। हिन्दी की परपरा की खोज मे हिन्दी का "ग्वालियरी भाषा" नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले "मध्यदेश और ग्वालियर" के प्रसग में हम यह दिखा चुके है कि मध्यदेश का सांस्कृतिक केन्द्र—साहित्य और भाषा का केन्द्र ग्वालियर समझा जाता था। उसके द्वारा निर्मित हिन्दी का नाम भी "ग्वालियरी भाषा" था।

भानभट्ट जब ध्रुपद के पदों की भाषा को मध्यदेशीय भाषा कहता है, तब वह यह व्यजना भी कर देता है कि यह भाषा ग्वालियर में बनी, परन्तु उसने ग्वालियरी भाषा का उल्लेख नहीं किया। इसके स्पष्ट उल्लेख अन्यत्र मिलते है। श्री अगरचन्द नाहटा के सग्रह मे

ग्वालियरी का गद्य-हितोपदेश

हितोपदेश के एक गद्यानुवाद की तीन प्रतियाँ हैं*। उसके कुछ पृष्ठों की प्रतिलिपि कराकर नाहटा जी ने हमारे पास भेजी है। श्री नाहटा जी का मत है कि यह विक्रमी पन्द्रहवीं शताब्दी (ई० १५ वीं शताब्दी के अन्त अथवा १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ) की रचना है। इस ग्रन्थ में उसके रचयिता का नाम

* विशेष विवरण के लिए देखिए श्री अगरचन्द नाहटा ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रथ, भारती, मार्च १९५५, पृष्ठ २०८।

नाम अथवा उसका रचना-स्थान नहीं दिया गया। इसकी एक प्रति के अन्त में लिखा हुआ है—

"इति श्री हितोपदेश ग्रन्थ ग्वालेरी भाषा लब्ध प्रगासेन नाम पंचमो आख्यान हितोपदेश संपूर्ण।"

दखिनी के वजही ने ग्वालियर के चतुरों की प्रसंशा की, उनकी वाणी को भी प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया और उसके मन में जो वाणी घर कर गयी थी, उसका रूप भी उसने कुछ दोहे उद्धृत करके हमें दिखा दिया, परन्तु उस वाणी का प्रचलित नाम उसने नहीं दिया। वह जिस नाम-परम्परा में उलझा हुआ था, उसका विवेचन आगे किया गया है। दक्षिण भारत में ही ग्वालियर के चतुरों की वाणी का नाम हमें वजही के एक-

दक्षिण में ग्वालियरी

डेढ़ शताब्दी पश्चात् के एक उल्लेख में मिल गया है। नाभादास जी ने अपनी भक्तमाल की रचना सन् १५८५ ई० में की थी। इसकी टीका प्रियादास जी ने सन् १७१० ई० (वि० सं० १७६७) में की। नाभादास के मूल ग्रन्थ और प्रियादास की टीका का मराठी अनुवाद 'भक्त-रत्नावली' नाम से किसी नाना बुआ केन्दूरकर ने पश्चिम खानदेश में स्थित अमलनेर में किया है। यह हस्तलिखित ग्रंथ ग्वालियर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव के संग्रह में है। उसमें केन्दूर-कर बुआ ने भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह इस प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं:—

"आतां सद्गुरु कृपें करून श्री नाभा जी कृत भक्तमाल अग्रदास कृपें करून ग्वाल्हेरी भाषेंत मूल छप्पै नाभा स्वामी म्हणजे नारायणदास यांनीं गाइले आहेत। त्यांचा वरदहस्त श्री प्रियादास चैतन्य याजवर होऊन त्यांनीं हिन्दुस्थानी भाषेंत कवित्तें गाईलीं। तो अर्थ गूढ भोले भाले भक्त याचे समजण्यांत दक्षिणी भाषेत येईना तेव्हां दयावंत भक्तवत्सल श्री रामानुज साम्प्रदायी श्री गोविन्दाचार्य संस्थान अमलनेर यांजला करुणा येऊन नाना बुआ नारायण साम्प्रदायी यांस आज्ञा झाली कीं जगाचा उद्धार व्हावा

असा भाव स्वल्प पिशाच्च लिपींत करून सर्द जगाचा उद्धार करावा तेन्हा नाना बुआ हे श्री नारायण कृपेनें पूर्ण च आहेत। त्याच्या कृपेनें हे भक्त मालिकेचें विस्तार पिशाच्च लिपींत सर्व जगास दक्षिणी भाषेत समजावा म्हणून केला आहे।"

श्री भालेराव जी ने कृपा कर ग्रथ की मूल पैशाची लिपि (मोडी) से इनका उद्धार कर इन अशों को हमारे लिए सुलभ किया। इसमें नाभादास की भाषा को ग्वालियरी भाषा कहा है और प्रियादास की टीका की भाषा को हिन्दुस्तानी कहा गया है। ग्रन्थ के अन्त में पुन नाभादास जी की भक्तमाल की भाषा को ग्वालियरी नाम से सम्बोधित किया गया है —

"मोरोवा अण्णा अमलनेरकर याचे शिष्य याचपासून प्रगट भाला। हे छप्पय ग्वाल्हेरी भाषेत श्री नाभाजी ने केले आहेत। त्याज वर प्रियादास यानी टीका केली। हे दक्षिणी लोका करिता हा प्रताप याचा आहे।" आदि।

नाना बुआ केन्द्रूरकर का समय ईसवी अठारहवीं अथवा उन्नीसवी शताब्दी ज्ञात होता है। सुदूर दक्षिण में उस समय ग्वालियरी भाषा की छाप चल रही थी, यह स्पष्ट है।

नाभा जी की जन्मभूमि ग्वालियर थी

नाभादास की भक्तमाल न केवल पन्द्रहवीं शताब्दी एव सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण मे ग्वालियर में निर्मित भाषा को लिये हुए थी, वे स्वय भी ग्वालियर म ही जन्मे थे, वजही के शब्दों म, वे ग्वालियर के चतुरों मे थे। भक्तमाल का यह अनुवाद नाभादास जी के अनुयायी ने किया है और उसमें नाभा जी की जीवनी भी दी गयी है। उसके चमत्कारिक अश से हमें सम्बन्ध नहीं, परन्तु कुछ ऐसी बातें भी नाभादास जी के विषय मे इस ग्रन्थ में लिखी हैं, जो अभी तक अज्ञात थीं। उन सब पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालने के लिए तो हमने श्री भालेराव जी से आग्रह किया है, हम यहाँ उसके आवश्यक अश को ही

देना उचित समझते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार नाभादास जी हनुमान वंश के थे। उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था तथा वे अन्धे थे। जब वे पाँच वर्ष के हुए, उनके पिता का देहान्त होगया। तभी ग्वालियर में घोर दुष्काल पड़ा*। उनकी माता उन्हें लेकर जयपुर गयीं, जहाँ पास ही पर्वत पर गलता में अग्रदास की गद्दी थी। पर्वत के नीचे घोर जंगल था। दुखी माता ने बालक नाभादास को जंगल में छोड़ दिया। संयोग से कील्हदास और अग्रदास जंगल में घूमने निकले। वे उस बालक का रोना सुनकर उसके पास पहुँचे। अपने कमंडलु से

* यह दुष्काल कुछ दैवनिर्मित एवं कुछ मानव निर्मित था। ६ जुलाई सन् १५०५ ईसवी में आगरा-ग्वालियर में भयंकर भूकम्प आया था। इसी वर्ष अक्टूबर मास में जब किसान खरीफ की फसल तयार करने में लगे हुए थे, सिकन्दर लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। ग्वालियर और आसपास के गावों की समस्त प्रजा पहाड़ों और जंगलों में भाग गयी। सिकन्दर लोदी की सेना ने जो भी व्यक्ति मिला उसे मौत के घाट उतारा तथा समस्त प्रदेश को वीरान कर दिया। विनाश और विध्वंस का कार्य इतनी पूर्णता के साथ किया गया कि स्वयं आक्रान्ताओं को भोजन मिलना दुर्लभ हो गया। कुछ बनजारों को जो अनाज तथा खाद्य सामग्री ले जा रहे थे, सिकन्दर ने लूट लिया, तब उसकी सेना को रसद मिल सकी। उस समय मानसिंह तोमर ने उस पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर को आगरा लौटना पड़ा (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग ३, पृष्ठ २४३)। इस प्रकार नाभादास जी का जन्म सन् १५०० ई० निश्चित होता है, क्योंकि इस दुष्काल के समय (सन् १५०५) में वे पाँच वर्ष के थे। भक्तमाल का रचनाकाल सन् १५८५ ई० माना जाता है और नाभादास जी का सन् १६०० ई० के आसपास जीवित होना भी माना जाता है। ये तिथियाँ अनुमान पर आधारित हैं, परन्तु इनको देखते हुए भी नाभादास जी का जन्म १५०० ई० में होना असंभव नहीं।

उसकी आँखों पर जल छिड़का। बालक ने जोर से जो आँख खोली, तो उसे दिखने लगा। वे उसे अपने साथ गलता जी ले गये और वहाँ उसे मंत्र देकर दीक्षित किया तथा साधुसेवा का कार्य दिया।

श्री भालेराव जी के संग्रह में ही भक्तमाल की एक टीका* किसी अज्ञात लेखक की और है। इसमें भी नाभादास जी के बाल्यकाल के विषय में उल्लेख है। इससे केन्दूरकर के उल्लेख का समर्थन होता है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

—श्री नाभा जू की आदि अवस्था—

हनूमान वंश ही में जनम प्रसिद्ध जाको
भयो द्रगहीन सो नवीन बात धारियै।
उमर बरस पाँच मान कै अकाल आंच,
माता वन छोड़ गई विपति विचारियै॥
कील श्री अगर ताही डगर दरस दियो
लियो यो अनाथ जान पूछी सो उचारियै।
बडे सिद्ध जल लै कमंडल सौं सींचि नैन
चैन भयो खुले चख जोरिकै निहारियै॥

इसमें नाभादास जी के जन्मस्थान का उल्लेख नहीं है। तीसरी पंक्ति के मान का अर्थ मानसिंह तोमर लगाने से श्री भालेराव को आपत्ति है। हम इनकी आपत्तिको ठीक मानकर भी 'अकाल' के उल्लेख के आधार पर यह अवश्य कह सकते हैं कि केन्दूरकर का कथन प्रामाणिक है। भक्तमाल की टीकाओं की समस्त सामग्री के सम्यक अध्ययन से हिन्दी साहित्य के अनेक परिच्छेदों पर पर्याप्त नवीन प्रकाश पड़ सकता है।

बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़ ने ईसवी सोलहवीं शताब्दी में

* संवत् १९७८ में लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण बम्बई से भी यह टीका प्रकाशित हुई है। परन्तु उसका पाठ अत्यन्त भ्रष्ट और अप्रामाणिक है।

'क्रिसन रुकमिणी री वेलि' नामक प्रसिद्ध पौराणिक प्रेमाख्यान डिंगल में लिखा। इसका रचना-काल कुछ विद्वान सन् १५८७ ई० मानते हैं*। पृथ्वीराज राठौड़ अकबरी दरबार के बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। महाराणा प्रताप के वे सम्बन्धी थे। उनकी इस वेलि की रचना के पचास वर्ष के भीतर ही उसके अनेक अनुवाद हो गये। कविवर समयसुन्दर के प्रशिष्य जयकीर्ति ने सन १६२६ ई० में इस काव्य की टीका लिखी है और अपने पूर्ववर्त्ती टीकाकारों में किसी गोपाल की टीका का भी उल्लेख किया है†। गोपाल की इस टीका की भाषा को जयकीर्ति ने 'ग्वालियरी भाषा' कहा है:—

जयकीर्ति

ग्वालेरी भाषा सुविल मंद मरथ मित भाव।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी को—मध्यकालीन मध्यदेश की काव्य-भाषा को पश्चिम और दक्षिण में सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक ग्वालियरी भाषा कहा गया।

पृथ्वीराज राठौड़ की वेलि की गोपाल की टीका की भाषा को जयकीर्ति ने ग्वालियरी भाषा कहा है, परन्तु स्वयं गोपाल उस भाषा को ब्रजभाषा कहता है:—

ब्रजभाषा

मरु भाषा निरजल तजि करि ब्रजभाषा चोज।
अब गुपाल यातें लहै, सरस अनूपम मौज॥

कुछ विद्वानों का मत है कि ब्रजभाषा नाम का उल्लेख अठारहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता‡। गोपाल का यह उल्लेख सत्रहवीं शताब्दी का है। ब्रजबोली के रूप में तो उसका अस्तित्व निश्चित ही बहुत पहले

---

* नरोत्तम शास्त्री : क्रिसन रुकमिणी री वेलि, पृष्ठ ७७।

† अगरचन्द नाहटा : ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रन्थ, भारती, मार्च १६५५, पृष्ठ २०८।

‡ डा० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा, पृष्ठ १७।

का है। इस विषय का विवेचन भी हमें आगे करना है। यहाँ गोपाल के इस अनुवाद के विषय में दो बातें ही स्मरण रखना है। पहली तो यह कि यह अकबर के दरबारी और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य के काव्य की टीका है और दूसरे किसी मिरजाखान की आज्ञा लेकर यह कार्य किया गया था, जिनके द्वारा इस टीका का नाम 'रसविलास' दिया गया:—

> आग्या मिरजाखान की लई करी गोपाल।
> बेलि कहे को गुन यहै कृष्ण करो प्रतिपाल॥
> कवि गुपाल यह ग्रन्थ रच लायौ मिरजा पास।
> रसविलास दे नाऊ उनि कवि की पूरी आस॥

अकबर के इन मिर्जाओं को क्यों और कब से ब्रजभूमि, ब्रजराज एवं ब्रजभाषा से लगाव हो गया था इसका उल्लेख भी हम आगे कर रहे हैं। यहाँ यह समझ लेना पर्य्याप्त है कि जिस भाषा को जयकीर्ति ने ग्वालियरी भाषा कहा, उसको ही गोपाल ने ब्रजभाषा कहा है। इसके पहले कि हम ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा के रूप और रहस्य को समझने का प्रयास करें, हिन्दी को मुसलमानों के सम्पर्क से प्राप्त हुए नामों पर तथा मध्यदेश की बोली के भाषा बनकर दक्षिण में प्रवास करने की कहानी पर दृष्टि डाल लेना उचित है।

मुसलमान और मध्यदेशीय भाषा

बोली और भाषा

बोली और भाषा का अन्तर समझना किसी भाषा विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कठिन नहीं है। उसका सम्यक विवेचन किसी भी भाषा विज्ञान के ग्रन्थ में मिल सकता है। प्रत्येक जनपद अपने उच्चारण की विशेषताओं तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के कारण अपनी बोलचाल की भाषा में विभेद उत्पन्न कर लेता है। परन्तु जब तक उसमें विशद काव्य-रचना होकर वह किसी एक प्रदेश में मान्य काव्य भाषा के रूप में व्यवहृत नहीं होती, उसे भाषा नहीं कहा जाता। मध्यदेशीय भाषा जब समस्त मध्यदेश की मान्य काव्य भाषा बन गयी, उस समय भी मध्यदेश के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक बोली भेद रहे हैं। भारत में बोली बारह कोस पर बदल जाती है, ऐसी मान्यता है। आज भी यदि मथुरा से नर्मदा तट तक की यात्रा की जाय, तब यह बोली भेद स्पष्ट दिखाई देगा।

हिंदी के प्रारंभिक केंद्र

जब ईसवी दसवीं शताब्दी से हिन्दी के नवीन संस्कृत परक रूप का निर्माण प्रारम्भ हुआ, तब भी मध्यदेश के विभिन्न कोनों में यह बोली-भेद होगा ही। इनकी व्यापक समानताएँ ही उन्हें एक भाषा का अंग प्रकट करती होंगीं। मथुरा, महोबा, अजमेर, दिल्ली और ग्वालियर के आस-पास बोल चाल की बोलियाँ निश्चित ही कुछ विभिन्नताएँ लिये हुए थीं। परन्तु एक व्यापक भाषा भी संगीत और काव्य के माध्यम के रूप में निखरने लगी थी। ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व यह कार्य अजमेर, दिल्ली, महोबा और ग्वालियर में हुआ था ऐसा प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है। यह निश्चित है कि जिस प्रदेश के रचनाकार गेय पदों अथवा काव्यों की भाषा में रचना करने लगे थे, वहाँ

की स्थानीय बोली से उनकी भाषा प्रभावित होती थी । पश्चिमी राजस्थान और दिल्ली के जो काव्य ग्रन्थ अभी प्राप्त हो सके हैं, उनकी भाषा में जो अन्तर है, वह इसी प्रक्रिया का द्योतक है । जब महमूद गजनवी ने सन १०१७ ई० में भारत के सिंहद्वार पर प्रथम पदाघात किया उस समय से भारत के सांस्कृतिक संगठन में खलबली मच गयी । उस समय भी यह प्रमाण अवश्य मिलता है कि मध्यदेश की भाषा इतनी विकसित हो गयी थी कि महमूद भी उससे आकर्षित हुआ था । महोबा के नन्द कवि की वाणी ने उस मुस्लिम सैनिक पर भी प्रभाव डाला था* । उस समय जो काव्य भाषा बन रही थी उसका केन्द्र महोबा था । जब अजमेर और दिल्ली में सुदृढ राजपूत राज्य स्थापित हुए तब उनके आश्रय में भी चारण भाटों ने रचनाएँ प्रारम्भ कीं । परन्तु अजमेर, दिल्ली और महोबा भी अधिक समय तक मुसलमानों के आक्रमण को सफलता पूर्वक सह न सके । ग्वालियर और मेवाड उनके प्रभाव से अवश्य कुछ काल तक मुक्त रहे, यद्यपि उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जीवन और मरण के बीच रहना पड़ता था । महमूद गजनवी के समय से ही दिल्ली और आगरा के बीच का मध्यदेश का भाग सतत पठानों और अफगानों से पीडित रहा। उस बीच पश्चिम में मेवाड और मध्य में आज बुन्देलखण्ड कहलाने वाला भू भाग भारतीय परम्पराओं को तथा मध्यदेश की भाषा के गौरव को बढाता रहा।

इस काल की ऐतिहासिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि पर हम आगे विचार करेंगे । अभी इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि अलाउद्दीन खिलजी के समय तक हिन्दी भाषा बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी।

खुसरो का हिन्दी-स्तवन

उसके व्यवस्थित रूप ने, उसकी भावाभिव्यंजना की शक्ति एव माधुर्य ने खिलजी तथा तुगलकों को भी आकर्षित किया था । उस रूप के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मध्यदेश के उत्तरी भाग

* कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ २२।

का अधिक योग नहीं मिल सका, मथुरा के वैभवशाली मंदिरों ने मुसलमानों की लिप्सा को आकृष्ट कर लिया और वह वैभव उसके विनाश का कारण बन चुका था। महमूद के आक्रमण के समय (सन् १०१७) से अकबर के समय तक मथुरा का इतिहास अज्ञात सा है*। वहाँ बोली तो कोई उस समय भी रही होगी, परन्तु किसी भाषा के निर्माण का श्रेय तत्कालीन मथुरा-गोकुल को नहीं दिया जा सकता। मध्यदेश के अन्य केन्द्रों में तब तक हिन्दी ने वह रूप धारण कर लिया था जिसके विषय में अमीर खुसरो ने लिखा है "मैं भूल पर था। अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह एक कमी है कि वह बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि वह शुद्ध है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं।" "हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है क्योंकि उसमें भी मिलावट को स्थान नहीं है। यदि अरबी व्याकरण नियमबद्ध है तो हिन्दी में भी उससे एक अक्षर कम नहीं। जो इन तीनों (भाषाओं) का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं न भूल कर रहा हूँ और न बढ़कर लिख रहा हूँ। और यदि पूछो कि उसमें अधिक न होगा तो समझलो उसमें दूसरों से कम नहीं है†।" खुसरो का यह 'भाषास्तवन' संभव है संस्कृत से संबंधित हो, परन्तु व्रजरत्नदास जी ने उसे हिन्दी के सम्बन्ध में ही माना है‡। निश्चय ही अमीर खुसरो ने जिस भाषा में अरबी के समान भावव्यंजना की शक्ति

---

* डा० सत्येन्द्र द्वारा सपादित: ब्रज-लोक-साहित्य, पृष्ठ १५६।

† ब्रजरत्नदास : खुसरो की हिन्दी कविता, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत १६७८, पृष्ठ २७६।

‡ वही।

मानी है, वह दिल्ली मेरठ की बोली, जिसे लल्लूलाल जी ने खड़ी बोली नाम दिया, नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय वह काव्य भाषा नहा बन सकी थी। वह कोई सीमित क्षेत्र की ब्रजभाषा भी नहीं थी, क्योंकि मथुरा गोकुल में अमीर खुसरो के समय कोई नाम के लिए भी सगीतज्ञ अथवा कवि नहीं था, और यह नाम भी हिन्दी में खुसरो से अनेक शताब्दी बाद आया। वास्तव में अमीर खुसरो द्वारा वन्दित भाषा वह थी जिसमें महोबा का जगनायक रचनाएँ कर चुका था अथवा जिसमें कालिजर के कवि नन्द ने महमूद गजनवी की स्तुति की थी तथा जिसकी माधुरी का प्रभाव महमूद पर पडा था*, अथवा ग्वालियर तथा नरवर के कछवाहा, परिहार, जज्जपेल आदि राजाओं की राज सभाओं में जिसमें रचनाएँ हो रही थीं अथवा जिसम चन्दबरदायी अपना रासो लिख चुके थे। यह वही भाषा थी जिसे आगे तोमरों के समय म ग्वालियरी भाषा नाम मिला।

अमीर खुसरो के समय की मान्य भाषा यही चारण भाटों द्वारा निर्मित काव्य-भाषा थी, इसके प्रमाण मे मुल्ला दाउद की प्रेम-कथा 'चन्दायन' का उल्लेख किया जा सकता है। जायसी, कुतबन, मझन आदि सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों की भाषा और शैली देखकर आजकल अनुमान यह किया जाता है कि मुल्ला दाउद के प्रेमाख्यान की भाषा भी अवध की बोली होगी। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उसके उद्देश्य, विषय एव भाषा के सम्बन्ध में अलबदाउनी ने लिखा है "मुल्ला दाउद ने चन्दायन नामक एक हिन्दी मसनवी नूरक और चन्दा की प्रेम कहानी बडी सजीव शैली में जूनाशाह के सम्मान में लिखी। मुझे इस पुस्तक की प्रशसा में कुछ भी नहीं कहना है, क्योंकि दिल्ली मे यह पुस्तक स्वय अत्यन्त प्रसिद्ध है। मखमूद शेख तकीउद्दीन वायज रब्बानी मुल्ला दाऊद की कुछ कविताएँ,

मुल्ला दाऊद के 'चन्दावन' की भाषा

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ २२।

जिनमें चन्दावन भी थी, मस्जिद में पढ़कर सुनाया करते थे और जनता उससे प्रभावित होती थी। एक बार शेख से कुछ लोगों ने पूछा कि आपने इस हिन्दी मसनवी को ही क्यों चुना ? शेख ने उत्तर दिया कि यह समस्त आख्यान एक ईश्वरीय सत्य है, पढ़ने में मनोरंजक है, प्रेमियों को आनन्द भरे चिन्तन की सामग्री देने वाला है, कुरान की कुछ आयतों का उपदेश देने वाला है और हिन्दुस्तानी गायकों-भाटों के गीत जैसा है*।" मुल्ला दाऊद ने यह मसनवी सन् १३७० ई० में अर्थात खुसरो की मृत्यु (सन् १३२४ ई०) के ४६ वर्ष पश्चात दिल्ली में ही लिखी थी। उस समय दिल्ली में मेवाड़ और महोबा के भाटों के गाने की भाषा काव्य-भाषा मानी जाती थी। अमीर खुसरो के समय ही यह गोपाल नायक जैसे संगीतज्ञों द्वारा उस संगीत की भाषा बनाई जा चुकी थी जिसका अत्यन्त निखरा हुआ रूप तोमरों के संगीत एवं पदों में मिलता है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि खिलजी और तुगलकों के दक्षिण अभियानों के साथ यही भाषा गयी, जिसका उस समय तक ग्वालियर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा दक्खिनी के जिस गूजरी नाम का उल्लेख किया गया है उसके विषय में विचार करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। दण्डी के मतानुसार आभीरादि की बोली अपभ्रंश है। महाभारत के निर्माणकाल तक आभीर मध्यदेश की पश्चिमी सीमा पर मौजूद थे। दण्डी के समय तक वे विनशन के पूर्व की ओर बहुत दूर तक समस्त मध्यदेश में फैल गये थे†। उनके द्वारा न संस्कृत अपनाई गयी, न प्राकृत। उनकी बोली तत्कालीन लोक-भाषा अपभ्रंश बनी। दण्डी ने इसे ही आभीरों की बोली कहा। दण्डी के 'आदि' में गूजर भी अवश्य होंगे। ईसवी छठी शताब्दी से गूजरों द्वारा गुजरात और भड़ौंच को जीता गया। उनकी मुख्य राजधानी भिन्नमाल

दण्डी के आभीरादि

* डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ: हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के पृष्ठ ६ पर उद्धृत।

† नामवरसिंह: हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ २८।

थी, जहाँ से वे दसवीं शताब्दी में चालुक्यों द्वारा पूर्व की ओर खदेड दिये गये। इस प्रकार गुजरात तथा राजस्थान से मध्यदेश की भाषा का साम्य स्थापित हुआ, जो चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी तक स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु यहाँ हमें केवल उन गूजरों से सम्बन्ध है जो खिलजी और तुगलक सुल्तानों के साथ दक्षिण में पहुँचे तथा जिनके कारण वहाँ की हिन्दवी का एक नाम गूजरी भी पडा।

गूजर और अहीर समस्त मध्यदेश मे फैले हुए हैं। ग्वालियर के आसपास तो गाँव के गाँव आज भी अहीर और गूजर आदि गोपालों की बस्तियाँ हैं। गोपाचल नाम ही उन ग्वालों का दिया हुआ है। चरखारी मे गूजरों का राज्य तो देशी राज्यों के विलीनीकरण तक रहा है। बड गूजर गगा किनारे तक पहुँचे जहाँ उनके द्वारा अनूपशहर बसाया गया*। ये दोनों जातियाँ यद्यपि पशुपालन और खेती का व्यवसाय करती है, परन्तु आज भी वे अपनी सैनिक-सुलभ शरीर सम्पत्ति लिये हुए हैं। मुस्लिम सुल्तानों की सेना में केवल मुसलमान सैनिक ही नहीं होते थे। उनमें आभीरों और गूजरों तथा नष्टराज्य राजपूतों को भी स्थान मिलता था। माचेडी का बड गूजर गोगदेव फीरोजशाह तुगलक का सामन्त था† (दक्षिण में गूजर और बड गूजर का भेद नहीं समझा जा सकता था) और उसी फीरोजशाह की सेना में ग्वालियर के तोमर राज्य के सस्थापक वीरसिंह भी थे‡। सुल्तानों की सेना की यह परम्परा पुरानी है। अतएव अलाउद्दीन के दक्षिण अभियानों मे गूजर तथा आभीरादि गये होंगे। उस समय तक आभीर गूजरों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा अपभ्रश से निकल कर हिन्दी का रूप ग्रहण कर चुकी थी। तत्कालीन ग्वालियर

गूजर और तुगलक

---

* टॉड का राजस्थान (ओझाकृत अनुवाद) जिल्द १ पृष्ठ १४०।

† गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ १५२।

‡ वही, पृष्ठ २६७।

में गूजरों का प्रभाव कितना था यह इसी बात से प्रकट होता है कि मानसिंह तोमर की रानी मृगनयनी गूजर-पुत्री थी, जिसके नाम पर उसने 'गूजरी', 'बहुल गूजरी', 'माल गूजरी' एवं 'मंगल गूजरी' रागिनियों को रूप दिया* और 'गूजरी महल' जैसे सुन्दर प्रासाद का निर्माण कराया।

जैसा डॉ० बाबूराम सक्सेना का मत है, गूजरी नामक इस दखिनी हिन्दी का रूप "पंजाब के पूरबी हिस्से और दिल्ली मेरठ की आसपास की भाषा" से निर्मित हुआ †। यद्यपि पंजाब के पूरबी हिस्से की और दिल्ली मेरठ की बोली भी मध्यदेश की है, परन्तु दक्षिण में उसका व्यवहार बोलचाल के लिए ही हुआ। उस काल में दक्षिण में परिनिष्ठित काव्यभाषा दूसरी समझी जाती थी। दक्षिण में पहुँचने वाले ये मुस्लिम प्रचारक जब दिल्ली से दक्षिण जाते थे, तब उन्हें ग्वालियर होकर जाना पड़ता था। दखिनी के पहले ग्रन्थकार बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) जब तैमूर के आक्रमण (ई० १३९८) के समय दक्षिण गये, तब भेलसा, ग्वालियर, भांडेर और गुजरात होते हुए दौलताबाद पहुँचे थे‡। भाषा की खोज में इनका सम्पर्क तत्कालीन काव्यभाषा से भी होना प्राकृतिक है। इन मुस्लिम लेखकों ने ग्वालियर से क्या पाया, इसका उल्लेख हम दखिनी कवि वजही के सिलसिले में पहले कर चुके हैं। वजही ने सबरस में ग्वालियर के चतुरों की वाणी के साथ अमीर खुसरो के एक पद्य को भी उद्धृत किया है:—

दखिनी का रूप

ज्यों खुसरो कहता है—बेत।

पखा होकर मैं भली साथी तेरा चाव।
मुज जलती को जनम गया, तेरे लेखन बाव॥

---

* गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ ३६।

† डॉ० बाबूराम सक्सेना : दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ २३।

‡ वही, पृष्ठ ३५।

दक्षिण में मुसलमान संतों ने नौमुस्लिमों और अपने अधीनस्थ हिन्दुओं को इस्लाम के उपदेश देने के लिए उत्तर की काव्यभाषा के स्थान पर दिल्ली-मेरठ की घरेलू बोली को प्राधान्य दिया और इसी कारण उनकी दक्खिनी में खड़ी बोली का पुट मिला है। परन्तु जैसा कि वजही के उद्धरणों* से स्पष्ट है, वे इस काव्यभाषा ग्वालियरी के गौरव को नहीं भूल सके। हमारे मत में तत्कालीन काव्यभाषा ग्वालियरी के एक उत्तरी कोने में जिस प्रकार दिल्ली-मेरठ की बोली एक स्थानीय घरेलू बोली थी, उसी प्रकार पूर्व में अवध की स्थानीय घरेलू बोली वह थी जिसे अवधी कहा जाता है। निम्न वर्ग में प्रचार के उद्देश्य से दिल्ली के सूफियों ने दक्षिण में जिस भावना से परिनिष्ठित काव्यभाषा को छोड़कर ग्रामीण रूप को अपनाया था, उसी भावना से जायसी ने अपने प्रदेश की स्थानीय बोली को अपनाया था। अस्तु।

मध्यदेश की भाषा मुसलमानी शासन के पहले से ही दक्षिण की ओर प्रवाहित होती रही है। संस्कृत, पाली और प्राकृत तो समस्त भारत में, उत्तर और दक्षिण में प्रचलित हो ही गयी थी, अपभ्रंश, वह भी मध्यदेश की अपभ्रंश को भी दक्षिण में प्रचार मिला। स्वयंभू तथा पुष्पदन्त अपभ्रंश के दो महान कवि हैं। दोनों ही मध्यदेश में उत्पन्न हुए। उन्हें आश्रय मिला दक्षिण के राष्ट्रकूटों की राजसभा में। परन्तु हिन्दी का जो रूप ईसवी प्रथम सहस्राब्दी के पश्चात निर्मित हुआ था, वह दक्षिण में तुर्कों के साथ पहुँचा। प्रसिद्ध भाषातत्त्व निशारद डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इस विषय में लिखा है "पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी संयुक्त प्रदेश—आर्यावर्त के जिस भाग का नाम मध्यदेश था तथा जिस भाग को आजकल पछाह

भाषा या 'गूजरी बोली'

* राहुल सांकृत्यायन, ग्वालियर और हिंदी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६६।

कहते हैं—से तुर्कों द्वारा भारत की विजय कर लेने के बाद ईसा की चौदहवीं शती से भाग्यान्वेषी सेनानी तथा वणिग्जन दक्खिन (महाराष्ट्र, तैलगाना और कर्नाटक) में अपना आसन जमाने लगे। इन लोगों में यद्यपि दिल्ली के तुर्क सुलतानों से प्रेरित या पृष्ठपोषित पंजाबी और पछाहीं भारतीय मुसलमान ही नेतृस्थानीय थे, फिर भी राजपूत, जाट, बनिया, कायस्थ आदि जातियों के हिन्दुओं की संख्या भी कम नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों में पूर्वी पंजाब और पछाह के गूजरों की संख्या अधिक थी, क्योंकि दक्खिनी को उसके कवि लोग 'भाखा' या 'भाखा' बोलते थे और 'गूजरी' नाम भी देते थे*।"

ईसवी तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में खिलजी और तुगलक शासन में यह भाषा सपर्क बहुत अधिक बढ़ गया। ईसवी सन् १२९४ में अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण भारत पर प्रथम अभियान किया। ईसवी सन् १३०६ में उसका दूसरा आक्रमण हुआ। अलाउद्दीन के गुलाम सेनापति मलिक काफूर ने ईसवी सन् १३१० तक समस्त दक्षिण को विजय कर लिया। मुहम्मद तुगलक ने तो ईसवी सन् १३२६ में देवगिरि को तुगलक साम्राज्य की राजधानी दौलताबाद के रूप में बनाने के लिए समस्त दिल्ली नगर निवासियों को रवाना कर दिया था। अलाउद्दीन के अभियानों में उस समय का सबसे अधिक प्रतिभाशाली तुर्क अमीर खुसरो भी दक्षिण गया था। इसका जन्म एटा के पास 'पटयाली' में हुआ था। यह स्थान मध्यदेश में, अथवा श्री राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में 'ब्रजभाषा या ग्वालियरी' के क्षेत्र में है†। वह हिन्दी का प्रशंसक तो था ही, उसके साथ इस भाषा का दक्षिण में जाना अनिवार्य था।

भाषा और दक्षिण

---

* श्रीराम शर्मा दक्खिनी का पद्य और गद्य, अवतरणिका, पृष्ठ ५।

† राहुल सांकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६७।

कुछ सूफी कवियों द्वारा प्रयुक्त 'भाषा' नाम का पहले उल्लेख हो चुका है। परन्तु दक्षिण और उत्तर के मुसलमान लेखकों द्वारा हिन्दी की एक और नाम-परम्परा स्थापित हो रही थी। जो मुसलमान प्रचारक तेरहवीं शताब्दी से दक्षिण में जाने लगे, उनके द्वारा हिन्दी की एक नाम परंपरा अलग बन रही थी। दखिनी के शेख अशरफ़ (ई० १५०३) ने इसे हिन्दवी कहा:—

हिन्दुई भाषा हिन्दवी या हिन्दी

बाजा कैता हिन्दवी मे। किस्सए मकतल शाह हुसें।
नज्म लिखी सब मौजूं आन। यो में हिन्दवी कर आसान।।*

शाह बुर्हानुदीन जानम (ई० १५८२) ने इसे हिन्दी कहा:—

यह सब बोलू हिन्दी बोल। पुन तूं एन्हो सेती घोल।।
ऐब न राखें हिन्दी बोल। मानी तो चख दीखें खोल।।
हिन्दी बोलो किया बखान। जेकर परसाद था मुझ ग्यान।।*

अरबी के विद्वान शाह मीरांजी शम्सुल उश्शाक़ का जन्म मक्का में हुआ था। इस्लाम का प्रचार करने ये भारत में आए थे। तुर्कों के अभियानों के साथ वे भी कर्नाटक पहुँचे और इस दखिनी में उपदेश देने लगे। वे लिखते हैं:—

'इमी बाल अरबी करे और फ़ारसी बहुतेरे।
यो हिन्दवी बोली तब इस अर्थ भावे सब
यह भाखा भले सो बोले पुन इसका भाव खोले
वे अरबी बोल न जाने न फारसी पछाने
ये देखत हिन्दी बोल पुन माइने में........।†

अतएव प्रकट है कि जो बहुत से नौमुस्लिम तथा हिन्दू दक्षिण में गये थे, वे अरबी या फारसी से अनभिज्ञ थे और अपने यसाथ मध्-

* डा० बाबूराम सक्सेना: दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १४।

† श्रीराम शर्मा: दखिनी का पद्य और गद्य, पृष्ठ ५२।

देश की भाषा ले गये थे। यह 'हिन्दी' या 'भाषा' दक्षिण में 'गूजरी' भी कहलाती थी, यह पहले लिखा ही जा चुका है।

वजही (ई०१६००) ने इस भाषा को अपने 'सबरस' में हिन्दी कहा:—

हिंदोस्तान में हिन्दी जुबान सों इस लताफत इस छन्दां सों नज़्म और नस्र मिला कर गुलाकर यो में बोल्या"* ।

परन्तु वजही ने ही उसे एक दूसरे स्थल पर दखिनी संज्ञा दी:—

दखिनी में जो दखिनी मिठी बात का ।
अदा नें किया कोई इस घात का ॥†

दखिनी

ई० सन् १६४६ में इब्न निशाती फूलबन ने भी इस भाषा को दखिनी नाम से संबोधित किया है । परन्तु नाम तो इसका हिन्दी या हिन्दवी-ही था। उत्तरापथ-सापेक्ष दखिनी नाम स्थानवाचक है। मुस्लिम शासकों द्वारा अनादर की भावना से दिया गया यह हिन्दवी-हिन्दी नाम "श्री गुनखान सुखदान कृपा निधान भगवान कपतान जान उलियट टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दया सागर परोपकारी डाक्तर उलियम हंटर नक्षत्री की सहायता से ... संवत १८६६ में"‡(ई० १८०६) पूर्ण किये गये अपने प्रेमसागर द्वारा लल्लूलाल जी ने हमारे दूसरे शासक अंग्रेजों को सँभला दिया," और फिर अंग्रेज विद्वानों के करकमलों द्वारा यह 'हिन्दी' नाम हमने सादर ग्रहण कर लिया। इस नाम की अपमानजनक भावना को समझने वालों ने इसे 'आर्यभाषा' और 'नागरी' नाम देने का प्रयत्न किया,परन्तु वे नाम प्रचलित न हो सके । जो हो गया सो हो गया। माई-बाप द्वारा दिया हुआ नक-

हिन्दी, आर्य-भाषा तथा नागरी

---

* डॉ० बाबूराम सक्सेना : दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १४ ।

† वही, पृष्ठ १५ ।

‡ व्रजरत्नदास द्वारा संपादित प्रेमसागर, पृष्ठ ४२ ।

छेदन अथवा दमड़ीमल नाम चल गया सो चल ही गया। स्मरण रखने की बात यहाँ केवल यह है कि हिन्दी साहित्य और भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम मान कर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता, जिसका सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की *मध्यकालीन काव्य-भाषा* का 'व्रजभाषा' नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले काव्य-ग्रंथों में किसी काल्पनिक व्रजभाषा की खोज।

ग्वालियरी और व्रजभापा

गोपाल के रसविलास अर्थात पृथ्वीराज राठौड़ की बेलि की टीका के विषय में हम यह पहले लिख चुके हैं कि उस अनुवाद की भाषा को जयकीर्ति ने ग्वालियरी भाषा कहा है और स्वयं गोपाल ने व्रजभाषा।

ग्वालियरी और व्रज एक ही भाषा के दो नाम

गोपाल ने यह नाम कहाँ से पाया और क्यों उसका प्रयोग किया, उन परिस्थितियों पर तो अब विचार करेंगे ही, यह भी स्मरणीय है कि उन परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्त जैनमुनि जयकीर्ति ने तत्कालीन काव्यभाषा के लिए सर्वमान्य नाम का ही प्रयोग किया है। एक ही भाषा के लिए इन दो नामों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भेद केवल नाम का है, भाषा के रूप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। शास्त्रीय क्षेत्र में जिस काव्यभाषा को ग्वालियरी भाषा कहा जाता था, उसको ही साम्प्रदायिक क्षेत्र में कुछ लोगों द्वारा व्रजभाषा नाम देना प्रारम्भ कर दिया गया। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि यह व्रजभाषा नाम किसी प्रदेश विशेष की बोली के लिए भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, वह विशुद्ध सम्प्रदाय विशेष का शब्द है। व्रजभाषा नाम के पीछे कार्य करने वाले साम्प्रदायिक भावना-प्रवाह का विवेचन करने के पहले यह समझ रखना आवश्यक है कि ग्वालियरी भाषा और व्रजभाषा एक ही भाषा-रूप के दो नाम हैं।

पांडे जी का मत

श्री चन्द्रबली पांडे ने श्री जगन्नाथप्रसाद भानु के छंदःप्रभाकर में उद्धृत दो दोहों के आधार पर कुछ विचार प्रकट किये हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि ग्वालियरी और व्रजभाषा कभी भिन्न भाषाएँ थीं*। छन्दःप्रभाकर में उद्धृत वे दोहे इस प्रकार हैं:—

---

* श्री चन्द्रबली पांडे : केशवदास, पृष्ठ २६०।

देश भेद सो होति हैं, भाषा विविध प्रकार।
बरनत हैं तिन सबन में, ग्वार परी रस सार॥
ब्रजभाषा भाषत सकल, सुर बानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल॥*

इनमें से प्रथम दोहे में भानु जी ने 'य' को 'प' पढ़कर ग्वार परी का अर्थ भी ब्रजभाषा बतलाया है। श्री पांडेजी ने इस भूल को पकड़ा और उसका संशोधन किया :—

"यहां पर हमें विशेष ध्यान देना है वह है श्री भानु जी की यह टिप्पणीः—

ग्वार—ग्वाल भाषा अर्थात् ब्रजभाषा।

किन्तु हमारा निवेदन है—जी नहीं। फलतः इसका अर्थ भी है ग्वालियर की भाषा।"

परन्तु यहाँ एक भूल के परिमार्जन में दूसरी भूल हो गयी। श्री भानु जी ने दोनों दोहों को एक ही भाषा से सम्बन्धित ठीक ही समझा था। लेकिन पांडे जी ने उन्हें दो भाषाओं के उल्लेख मान कर विवेचन किया "इतना ही नहीं, यहाँ इन दोनों दोहों में 'ग्वालियरी' और ब्रजभाषा का भेद भी धरा है। टुक ध्यान दीजिये। 'ग्वारियरी' को तो 'रस सार' कहा गया है, पर ब्रजभाषा को कहा गया है 'सुर बानी सम तूल' और साथ ही कहा गया है 'महारस मूल' भी। ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा का कारण भी यहीं छिपा है। पहले तो उसे संस्कृत के समकक्ष ठहराया गया है, जो शौरसेनी का दाय है, दूसरे उसे 'महारस मूल' कहा गया है, जो राधाकृष्ण की लीला का प्रसाद है। रही उधर 'ग्वारियरी'। सो उसे 'दाय' के रूप में संस्कृत का तो कुछ अभिमान हो सकता है, पर वह 'महारस' को अपने में कहाँ समेटे ? फलतः भक्ति भावना के प्रसार के कारण यह हारी, ब्रजभाषा जीत गयी।"

---

* श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' : छन्द-प्रभाकर, भूमिका, पृष्ठ १३।

जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, ग्वालियरी भाषा और व्रजभाषा नामों में भाषा के रूप-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। ग्वालियरी को भी शौरसेनी का दाय मिला था और उसका रूप-निर्माण भी मानसिंह तोमर से भी पूर्व अनेक नायक अपने पद-साहित्य द्वारा तथा डूंगरेन्द्रसिंह के काल में विष्णुदास 'महाभारत कथा' 'रुक्मिणी मंगल' तथा 'स्वर्गारोहण कथा' द्वारा कर गये थे और अपने साथ कृष्ण की लीलाओं का प्रसाद भी वह लिये थी। यह अवश्य है कि उसमें 'राधा' और गोपियाँ उतने विशिष्ट रूप में नहीं आई थीं जिसमें वे आगे बंगाल के प्रभाव से वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग, हितहरिवंश के राधावल्लभ संप्रदाय तथा स्वामी हरिदास के टट्टी सम्प्रदाय की वाणी में आईं। उक्त दोहों में जो कुछ कहा गया है उसका सीधा-सादा अर्थ यही है 'देश-भेद से विविध प्रकार की भाषाएँ हो जाती हैं, इन सबमें ग्वालियरी रस सार है जिसे सब व्रजभाषा कहते हैं, जो सुरवाणी के समतुल्य है, जिसमें सब कवि, उसे महारस मूल जानकर, काव्य रचना करते हैं।' दुर्भाग्य से श्री भानु जी ने इन दोहों के पूर्वापर का अथवा इनके रचना काल का उल्लेख नहीं किया, परन्तु जब उनके द्वारा दोनों को एक ही भाषा के सम्बन्ध में समझा गया तब उद्धृत दोहों के पूर्व अन्य भाषाओं अथवा बोलियों का उल्लेख होगा। तात्पर्य यह कि ग्वालियरी भाषा और व्रजभाषा को कभी दो भिन्न भाषाएँ नहीं माना गया। जिसे ग्वालियरी कहा जाता था, वही भाषा ज्यों की त्यों व्रजभाषा भी कही जाने लगी। ग्वालियरी का ही नाम व्रजभाषा हो गया अथवा व्रजभाषा को ही ग्वालियरी भी कहा जाता था इसका प्रमाण तो 'उर्दू के परम खोजी' मौलाना हाफिज मुहम्मद खाँ शेरानी के उस उद्धरण में ही है जिसे श्री पांडे जी ने अपनी पुस्तक में दिया है *। परन्तु श्री पांडे जी भी सही परिणाम पर ही पहुँच गये।

पांडे जी द्वारा प्राप्त परिणाम

* चंद्रबली पांडे : केशवदास, पृष्ठ २९३ ।

वे लिखते हैं, "यही 'ग्वालियरी' जब कृष्णकी बाँसुरी में ढली तब ब्रजभाषा के नाम से बाज उठी* ।"

ब्रजभाषा नाम की उत्पत्ति का रहस्य समझने के लिए ब्रजमडल के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा इस विषय में बहुत अधिक खोजबीन की जा चुकी है।

वार्त्ता का ब्रज-मडल

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "व्रज शब्द का सस्कृत तत्सम रूप व्रज है जो सस्कृत धातु व्रज शब्द 'व्रज' 'जाना' से बना है। 'व्रज' शब्द का प्रथम प्रयोग ऋग्वेद सहिता में मिलता है, किन्तु यहाँ यह शब्द ढोरों के चरागाह या बाड़े अथवा पशु-समूह के अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य तथा रामायण-महाभारत तक मे यह शब्द देशवाचक नहीं हो पाया था। हरिवंश तथा भागवत आदि पौराणिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग कृष्ण के पिता नन्द के मथुरा के निकटस्थ व्रज अथवा गोष्ठ विशेष के अर्थ में ही हुआ है।"† डॉ० वर्मा ने आगे प्रकट किया है कि चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता मे व्रज शब्द मथुरा के चारों ओर के प्रदेश के अर्थ में सर्व प्रथम मिलता है। सूरदास सम्बन्धी वार्त्ता में यह उल्लेख इस प्रकार आया है "सो एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु अडेलते व्रजकों पाउधारे सो कितनेक दिन में गऊघाट आए सो गऊघाट आगरे और मथुरा के बीचों बीच है"‡। वार्त्ता साहित्य की प्रामाणिकता को मानने वाले श्रद्धालु विद्वान उन्हें गोकुलनाथकृत मानते हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस विषय मे लिखा है "यह स्पष्ट है कि श्री गोकुलनाथ जी ने स्वय उन्हें कभी नहीं लिखा था, किन्तु उनके गोकुलनाथ

---

* चद्रवली पाडे केशवदास, पृष्ठ २६३।

† डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ १६।

‡ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, (गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण,) २७२।

जी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि उन रचनाओं के मूल वचन स्वयं उनके मुख से निकले थे* ।" "उन वचनामृतों का लिखित रूप में प्रचार होने के बहुत दिनों बाद श्री हरिराय जी ने उनका संकलन किया और गोकुलनाथ जी के तत्वधान में उनका वार्ताओं के रूप में संकलन कियां †।" गोकुलनाथ जी सन १६४७ ई० तक जीवित रहे। इस प्रकार यह वार्ता-साहित्य सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है। इस प्रकार व्रज शब्द या प्रदेश के अर्थ में सर्व प्रथम ईसवी सत्रहवीं शताब्दी में प्रादुर्भाव हुआ।

हम पहले लिख चुके हैं कि ईसवी सोलहवीं शताब्दी के पूर्व मथुरा के आसपास का प्रदेश इस स्थिति में नहीं था कि वह किसी काव्यभाषा के निर्माण में कोई सक्रिय योग दे सकता, विशेषत. उन शताब्दियों में जब हिन्दी का निर्माण हुआ। लोकभाषा को साहित्यिक-भाषा की कोटि तक पहुँचाने के लिए जिस उत्फुल्ल और आशापूर्ण जनजीवन की आवश्यकता होती है वह ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से ही मथुरा-मंडल में समाप्तप्राय कर दिया गया था। उन शताब्दियों में आशा और निराशा के बीच जिन जीवन्त संघर्षों की छाया में महोवा, मेवाड़ और ग्वालियर का हिन्दू जनजीवन उत्साह पूर्वक बने रहने और जमे रहने का प्रयास कर रहा था, वह मथुरा मंडल में दिखाई नहीं देता था। अपनी ओर से कुछ न कह कर हम व्रज-साहित्य-मंडल द्वारा व्रज-लोक-संस्कृति शिविर में दिये गये भाषणों में से श्री मदनमोहन नागर के भाषण 'व्रज का इतिहास' से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये देते हैं‡ :—

मथुरा-मंडल और हिन्दी

"लेकिन सभ्यता तथा शान्ति की यह दशा अधिक दिनों तक न

---

* प्रभुदयाल मीतल · अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ७८।

† वही।

‡ डॉ० सत्येन्द्र द्वारा संपादित · व्रजलोक-संस्कृति, पृष्ठ १५७-१६०।

रह सकी और पाचवी शताब्दी के अन्त में मध्य एशिया के रहने वाले जगली हूणों ने अपने नायक तोरमाण और मिहिरकुल के सचालन मे उत्तरी भारत को रूद डाला और वली गुप्त साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया। हूण लोग बौद्ध धर्म के कट्टर शत्रु थे इसलिए इन्होंने भारत वर्ष के समस्त बौद्ध स्थानों को लूटपाट कर नष्टभ्रष्ट कर डाला। मथुरा को भी इन आक्रमणकारी हूणों की ध्वसलीला का शिकार होना पडा और इस कारण यहाँ के कितने ही स्तूप विहार, सघाराम आदि बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट हो गये। पर सौभाग्यवश हूणों की राज्यसत्ता अधिक दिनों न चल सकी और ई० सन् ५३० मे बालादित्य और यशोधर्मा नामक राजाओं के नेतृत्व मे उस समय के नरेशो के सघ द्वारा मिहिरकुल बिल्कुल परास्त कर भारत से निकाल दिया गया। इसके बाद यद्यपि हर्षवर्धन, ललितादित्य, यशोवर्मन, मिहिरभोज आदि अनेक प्रतापी नरेशों के राज्य मे मथुरा रहा, पर इस समय की कला के जो नमूने हमे मिले है वे इतने कम और हीन है कि उनके आधार पर मथुरा का ठीकठीक इतिहास गढना असम्भव सा है और जब हम उत्तर मध्ययुग (१००० १२०० ए डी) में पहुँचते है तो यह टिमटिमाता हुआ दीपक भी बुझ जाता है। हूणों के आक्रमण से मथुरा की सभ्यता को इतना प्रचड धक्का लगा कि वह फिर यहाँ कभी नहीं पनप सकी। साथ ही साथ लोप हो गयी यहाँ की वह सारी कला भी जो उत्तरीभारत में निरन्तर ७०० वर्षो तक सूर्य के समान चमकती थी।

"इसके पश्चात भारतीय इतिहास के साहित्य में मथुरा का जो उल्लेख हम मिलता है वह महमूद गजनी के नवें आक्रमण से सम्बन्धित है। यह आक्रमण १०१७ ई० में हुआ था, और इसका पूर्ण विवरण हमें अल उत्बी की 'तारीख इ यमीनी' में मिलता है। कहा जाता है कि महमूद ने सर्व प्रथम बरन—आधुनिक बुलन्दशहर के किले को जीत कर काफिरो के एक नेता कूलचन्द के किले को जीतने के लिए पैर बढाया। कूलचन्द एक शक्तिशाली नायक था। इसने महमूद से लडने के विचार

से 'घने जगल' मे अपने सैन्य व हाथियों को सगठित किया, परन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। अपने को पराजित हुआ जानकर उसने अपनी स्त्री को अपने ही हाथ से मृत्यु की गोद में सुला दिया, और स्वय भी आत्म हत्या कर ली। महमूद ने उसके शहर को खूब लूटा और मन्दिरों को, जिनमे कई लोहे के सींखचों से सुदृढ बनाए गये थे और जिनमे कितने ही बडे-बडे काष्ठ-स्तभों से परिवृत थे, जलाकर भूमिशायी कर दिया। यद्यपि इस अवतरण में मथुरा या महावन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि उपर्युक्त ग्रथ म कुलचन्द के किले को 'मड' कहे जाने से तथा 'घने जगल' शब्द के महावन के पर्यायवाची होने से यही प्रतीत होता है कि इस वर्णन में मथुरा नगरी को ही इगित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस नगर का नाम 'महारूतुलाहिन्द' अर्थात जहाँ मन्दिर इत्यादि बडी सख्या में पाए जाते हों, कहा गया है। जिसके आधार पर फरिश्ता इत्यादि यवन इतिहासकारों ने इसे मथुरा का ही रूपान्तर माना है।

"इतिहासकारों के मतानुसार मथुरा इस समय ब्राह्मणधर्म, विशेषत आधुनिक कृष्णभक्ति का केन्द्र बन चुका था और इसके फलस्वरूप महमूद को यहाँ के मन्दिरों में अतुल धनराशि मिली थी।

"सन् १०१७ के पश्चात से अकबर के समय तक इस नगरी का इतिहास अज्ञात है। यवन शासकों के आतक के कारण मन्दिरों का समृद्धिशाली होना रुक सा गया था क्योंकि इनकी गृद्ध-दृष्टि से लेनेवाले और देनेवाले दोनो बचना चाहते थे। सभवत इसीलिए मथुरा नगरी म बौद्ध और जैन सस्कृति के अवशेष अब तक अगणित सख्या में पाए जाते है, वहीं पर पौराणिक धर्म के मन्दिर आदि या उनके ध्वसावशेष बहुत ही कम दृष्टिगोचर होते हैं। तत्कालीन यवन इतिहास में इस नगरी के उल्लेख भी नाममात्र ही को हैं। सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१६) के शासनकाल का वर्णन करते हुए 'तारीख इ-दौदी' का लेखक कहता है कि बादशाह इतना कट्टर मुसलमान था कि उसने मथुरा के

मन्दिरों का पूर्ण विध्वंस कर उसमें की प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कसाइयों को बाटों के काम में लाने के लिए दे दीं। पर वह इतने से ही सन्तुष्ट न रहा, उसने सब मन्दिरों को सरायों में परिवर्तित कर दिया और हिन्दुओं के सारे धार्मिक आचार बन्द करा दिये।

"जिस समय बाबर ने इब्राहीम लोदी को पराजित किया उस समय (१५२६) महावन में मरघूब गुलाम सभवत शासक के पद पर था। जुबदत-उल-तवारीख के लेखक शेख नूर-उल हक ने शेरशाह द्वारा आगरे से दिल्ली तक एक मार्ग बनवाए जाने के सिलसिले में मथुरा के उन जगलों का भी उल्लेख किया है, जिनमें रहने वाले डाकुओं का आतंक फैला हुआ था। मथुरा के ये जगल मध्यकाल में मुगल सम्राटों के आखेट के प्रमुख स्थान बने थे। अबुलफजल हमें बतलाता है कि किस प्रकार अकबर ने उसके एक नौकर के ऊपर झपटने वाले शेर को धराशायी किया था। जहाँगीरनामे से भी ज्ञात होता है कि इन्हीं वनों में किस प्रकार एक शेर हाथी पर बैठी हुई नूरजहाँ की गोली का शिकार हुआ था। शाहजहाँ ने भी नदी के उस पार महावन में चार शेरों की बलि ली थी, जिसका विवरण हमें शाहनामे में विशद शब्दों में मिलता है।

"अकबर के उदार शासन काल में मथुरा पुन उन्नति के सोपान पर चढने लगी।"

अतएव इस कथन से स्पष्ट है कि अकबर के शासन के पूर्व हिन्दी के जिस रूप का निर्माण मध्यदेश में हुआ, उसमें ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण, मथुरा मडल योगदान न कर सका। इस कार्य का भार उन दिनों चम्बल के दक्षिण में स्थित भूभाग के कन्धों पर पडा था। सोलहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के पूर्व हिन्दी का जो रूप था उसका मथुरा-मडल से अथवा सत्रहवीं शताब्दी में नामधारक ब्रजमडल से अधिक सम्बन्ध नहीं हो सकता था। उसका जिस क्षेत्र से सम्बन्ध था, उसके विषय में हम पहले भी लिख चुके हैं और आगे भी विस्तार से

लिखेंगे तथा वह "ग्वालियरी भाषा" नाम से भी प्रकट है।

ब्रजमडल नाम ईसवी सत्रहवीं शताब्दी मे अस्तित्व मे आया। ब्रजभाषा नाम भी सबसे पहले सत्रहवीं शताब्दी में ही हिन्दी में प्रयोग किये जाने का उल्लेख अब तक मिला है। परन्तु यह भ्रम न रहे कि जिस प्रकार ब्रजमडल नाम वार्ताओं की देन है, उसी प्रकार ब्रज भाषा नाम भी वार्ताओं की सूझ है। यह नाम सुदूर बगाल से आया है। बगला साहित्य के इतिहास लेखक श्री सुकुमार सेन ने लिखा है* "ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण म अथवा सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ब्रजबोली में पद रचना बगाली, असमियाँ तथा उडिया भाषा में प्राय एक साथ ही प्रवर्तित हुई। बगाल देश मे हुसेनशाह ने, जिसका समय लगभग सन् १४६३ से १५१६ तक का है इस बोली में रचना की। असम देश में शकरदेव ने ब्रजबोली की पद्‍रचना का प्रवर्त्तन किया, जिनका समय सन १५६८ ई० था। उडीसा मे प्राचीनतम प्राप्त पद-रचना रामानन्दराय की है, जिनका रचनाकाल सन १५०४ से १५११ ई० तक का माना जाता है। बगाल देश में ब्रजबोली में सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी तक अत्यधिक पद-रचना होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी भानुदास के नाम से इसमें रचना की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बगाल, असम और उडीसा में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी गीत-रचयिताओं ने जयदेव एव विद्यापति की भाषा की छाया लेकर मैथिल एव बगला भाषा के मिश्रण से बनी हुई कृत्रिम भाषा को ब्रजबोली नाम दे दिया था।" अपने एक दूसरे ग्रन्थ में इसी विद्वान लेखक ने लिखा है "साधारण कृष्ण भक्त भी यह समझने लगे थे कि द्वापर युग म राधाकृष्ण सभवत इसी भाषा में बातचीत करते थे, यही ब्रज की बोली थी। सुतरा इस भाषा का नाम 'ब्रजबोली' ब्रज अर्थात वृन्दावन की भाषा

---

* सुकुमार सेन बागला साहित्येर इतिहास, पृष्ठ २०५।

रखा गया*।"

बंगाल के ये वैष्णव भक्त सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही वृन्दावन-मथुरा में यात्राओं पर आने लगे थे। अनेक गौड़ीय भक्त तो वहाँ बस भी गये थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जब गोकुल में श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना की, तब प्रारम्भ में ये गौडीय भक्त ही उनकी सेवा पूजा के लिए नियुक्त थे। अपनी ब्रजबोली में ये कृष्ण-कीर्त्तन भी करते थे। परन्तु वल्लभाचार्य जी ने बंगाल के कृष्णभक्त वैष्णवों में राधाकृष्ण के संभाषण की मानी जाने वाली इस नवीन बोली अथवा उसके नाम ब्रजबोली को नहीं अपनाया। महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम माना और श्रीमद्‌भागवत् की 'स्पष्ट और अस्पष्ट सभी लीलाओं को उनके तत्त्व रूप एक हजार पचहत्तर नामों से प्रकट'† कर पुरुषोत्तम सहस्रनाम लिखा। उनके द्वारा लोकभाषा में भी उपदेश दिये गये। श्री मीतल का कथन है—"वल्लभाचार्य जी अपने व्याख्यान और प्रचार कार्य में ब्रजभाषा का ही उपयोग करते थे। उनको यह भाषा इसलिए प्रिय थी कि यह उनके इष्टदेव भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित है। वे इस भाषा को 'पुरुषोत्तम भाषा' कहते थे‡।" बंगाल के कृष्णभक्तों ने भक्ति के भावावेश में जिस प्रकार एक 'ब्रजबोली' की कल्पना की थी, उसी प्रकार भक्ति की भावना के प्रवाह में वल्लभाचार्य जी ने पुरुषोत्तम कृष्ण की भाषा की कल्पना की। वल्लभ सम्प्रदाय में सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण की भाषा 'पुरुषोत्तम भाषा' नाम से भक्तों के समाज में प्रस्थापित हुई।

पुरुषोत्तम भाषा

बंगाल के वैष्णव भक्तों की ब्रजबोली का उल्लेख ऊपर हो चुका है। ईसवी सोलहवीं शताब्दी के प्रारभ में ही चैतन्य महाप्रभु ने

---

* सुकुमार सेन : बाङ्ला स हित्येर कथा, पृष्ठ ३४।

† द्वारकादास पारीख तथा प्रभुदयाल मीतल : सूर निर्णय, पृष्ठ १२६।

‡ प्रभुदयाल मीतल : अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १५।

वृन्दावन यात्रा की। लगभग सन् १५१० ई० में वे काशी होते हुए वृन्दावन गये और वहाँ अनेक मास निवास किया*। कहा तो यह भी जाता है कि वल्लभाचार्य जी की कन्या से उनका विवाह हुआ था†। चैतन्य ने लोकनाथ गोस्वामी को वृन्दावन के उद्धार के लिए वहाँ भेजा।

ब्रजबोली की वृन्दावन में स्थापना

चैतन्य मत के प्रधान समर्थक षट्-गोस्वामी — रूप गोस्वामी (१४६२-१५६१ ई०), सनातन गोस्वामी (१४६०-१५६१ ई०), रघुनाथदास गोस्वामी (१४६८-१५८४ ई०), रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट तथा जीव गोस्वामी वृन्दावन में निवास कर रहे थे। वृन्दावन में कविराज कृष्णदास (१४९६-१५९८ ई०) ने चैतन्यचरणामृत लिखा जिसकी भाषा बगाली है, परन्तु उसमें वृन्दावन की भाषा का भी मिश्रण है। इस भाषा को भी ब्रजबोली कहा गया‡। बगाल, उडीसा और असम के वैष्णवों द्वारा भक्ति भावना से प्रसूत यह नाम वृन्दावन में प्रचार पा रहा था और पास ही गोकुल में महाप्रभु वल्लभाचार्य का इसी भावना से उद्भूत नाम 'पुरुषोत्तम भाषा' भक्तों की भावना को परितुष्ट कर रहा था। महाप्रभु वल्लभाचार्य का गोलोकवास सन् १५३७ ई० म हुआ। कुछ समय में ही गौडीय वैष्णव और वल्लभ सम्प्रदाय का निकट सम्पर्क होना सभाव्य है। महाप्रभु के तिरोधान के पश्चात उनके चलाये हुए 'पुरुषोत्तम भाषा' नाम को उनके अनुयायियों ने बदल दिया ज्ञात होता है। वार्ता में की गयी ब्रज मडल की कल्पना के पश्चात जब ब्रज की रज का भी महत्त्व बढा, तब कृष्ण भगवान के सम्भाषण की भाषा के लिए गोकुल के भक्तों को भी ब्रजबोली नाम ही अधिक उपयुक्त ज्ञात हुआ। परन्तु

ब्रजबोली से ब्रजभाषा

---

* बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५०१।

† डॉ० सत्येन्द्र द्वारा सम्पादित ब्रज-लोक संस्कृति, पृष्ठ १७०।

‡ बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५१६।

'वोली' से सन्तोप न कर उसे भाषा वना दिया गया और वृन्दावन के वंगाली भक्तों की ब्रजवोली के स्थान पर गोकुल में उसका अधिक शालीन नाम 'ब्रजभाषा' अपनाया गया।

पूरव के कृष्णभक्त असम, बंगाल और उड़ीसा के वैष्णव कवियों की मिश्रित भाषा ब्रजबोली को भक्ति-भावना में बहकर राधाकृष्ण के सम्भाषण की भाषा मानते थे। भावुकता का यह विभ्रम बीसवीं शताब्दी में भी दिखाई दिया। अत्यन्त भावुक हृदय कविरत्न श्री सत्यनारायण ने ऐसे ही भावावेश में लिखा* :—

भावावेश का परिणाम

> वरनन को करि सकत भला तिह भाषा कोटी।
> मचलि मचलि जामें मांगी हरि माखन रोटी॥

पर यह सब तो केवल भावावेश और भक्ति-भावना की वात रही। भक्तों की दुनियाँ में सब कुछ सम्भव है। भाषा के विकास के इतिहास में तो कठोर तथ्यों पर ही विचार किया जा सकता है। वे यह प्रकट करते हैं कि मध्यदेशीय भाषा को दिया गया ब्रजभाषा नाम भाषा-विकास की परम्परा का नहीं है, न उसका सम्बन्ध भाषा के रूप से ही है, वह तो भावुक भक्तों के मधुर कल्पना-लोक की सृष्टि है।

दक्षिण देश भावुक नहीं है, उतना तो किसी दशा में नहीं जितना बंगाल है। कृष्ण-भक्त दक्षिण में भी हुए अथवा इस प्रकार कहा जाय कि वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के अथवा चैतन्य महाप्रभु द्वारा ग्रहीत भक्ति के मूल निरूपक विष्णु स्वामी तथा मध्वाचार्य दक्षिण के ही थे। दक्षिण के भक्त नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि ने मध्यदेश की भाषा में प्रचुर रचनाएँ भी कीं, परन्तु वे श्रीकृष्ण के दूसरे रूप के उपासक थे। वे विट्ठल के भक्त थे, उनकी दृष्टि पंढरपुर की ओर रहती थी। अतएव

ब्रजभाषा नाम और दक्षिण

---

* सत्यनारायण कविरत्न : हृदयतरंग (प० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित), पृष्ठ १७०।

उनके द्वारा ब्रजभूमि अथवा ब्रजभाषा नाम ग्रहण नहीं किया गया। दक्षिण में केन्द्रकर जहाँ मध्यदेशीय हिन्दी को ग्वालियरी भाषा कहता है, तो महादजी शिन्दे और भी पुरानी परम्परा पकड़ कर उसे शौरसेनी भाषा कहते हैं।

ब्रजभाषा नाम में भाषा की टकसाल गोकुल और मथुरा में मानने की भावना के साथ-साथ कृष्ण की माधुर्य-भक्ति की स्वीकृति की भावना भी विद्यमान है, और साथ ही विद्यमान है तुर्कों से सांठ-गाँठ की भावना। इसका एक विवादी स्वर बुन्देलखंड में भी सुनाई दिया। अपने समय के महापण्डित केशवदास ने इन दोनों को ही स्वीकार नहीं किया। जिस समय मुगल दरबार और श्रीनाथ जी के मन्दिर में 'ग्वालियरी' का नाम 'ब्रजभाषा' ढल रहा था, उसी समय ओड़छा की बुन्देल-राजसभा में केशवदास 'भाषा' में रचना कर रहे थे। उनके आश्रयदाता बुन्देला सदा मुगलों से टकराते ही रहे। पुष्टिमार्ग द्वारा प्रचलित माधुर्य-भक्ति केशवदास को लोक-कल्याण के विरुद्ध दिखाई दे रही थी। सखी-नारी-वेश में कृष्ण की उपासना को केशवदास ने अवैदिक और पाखण्डपूर्ण माना। वे इसी तैश में मथुरा को पाखडपुरी कह गये तथा वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति उन्होंने लिखा—

विद्रोही बुन्देलखंड

उनको कबहू न विलोकनि कीजे,
अरु जो परिये तो निरं पगु दीजे।
विपदा मह आनि भजौ दुख कीजै,
बूढ़ि नदी मरिये विष पीजै ॥*

उनके द्वारा इसी कारण 'लोक की लीक'† स्थापन करने वाले रामचरित्र का बखान किया गया है। केशवदास की भाषा को

* केशवदास : विज्ञान गीता ८-४३।

† केशवदास : रामचन्द्रिका।

श्री चन्द्रबली पांडे ने 'ग्वालियरी*' कहा है, वह इस अर्थ में ठीक है कि उनके द्वारा गोकुल-मथुरा की शब्दावली और व्याकरण को टकसाली नहीं माना गया। वे ग्वालियर की, शिरोमणि मिश्र के समय की भाषा को ही, अपनी काव्य-भाषा मानते रहे। परन्तु उनने अपनी 'भाषा' को ग्वालियरी नहीं कहा, क्यों कि ग्वालियर का अखाड़ा तो उखड़ चुका था। वे ग्वालियर के तोमरों से उनकी रसिकता के कारण प्रसन्न भी नहीं थे। इसी के कारण संभवत शिरोमणि मिश्र मानसिंह से 'रोष' कर गये थे। केशव ने तोमरों को राजपूतों मे 'मन्मथ'† कह कर इसकी व्यंजना की है। तात्पर्य यह कि अपनी भाषा को केशव ने न तो ग्वालियरी भाषा कहा और न व्रजभाषा। जिसे पहले वे केवल 'भाषा' कहते थे, उसे ही आगे चलकर उनके द्वारा 'नर भाषा' कहा गया —

केशवदास की नरभाषा

> देव देवभाषा करें, नाग नागभाषानि।
> नर हो नरभाषा करी, गीता ज्ञान प्रमानि ॥‡

संभव है इस 'नर भाषा' नाम मे गोपांगना भाषा की प्रतिक्रिया की भी व्यंजना हो। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि केशव के जिस 'देसनि की मणि' मध्यदेश का गुणगान किया है उसमें उत्तर मे वे 'गोपाचल गढ़' तक ही गये हैं¶। बुन्देला वीरसिंह द्वारा मथुरा मे कृष्ण के स्थान पर चारभुजनाथ केशवराय का मन्दिर बनवाने में बुन्देलखंड की यह विद्रोह भावना ही परिलक्षित होती है। बुन्देला अपने साथ काशी के गहरवारों की परंपरा लेकर आए थे।

'ग्वालियर' नाम में ही उसे कृष्ण-भक्ति-परक नाम देने की संभावना

---

* केशवदास : पृष्ठ २६४।

† केशवदास : वीरसिंह देव चरित्र।

‡ केशवदास : विज्ञान गीता १।७।

¶ पीछे पृष्ठ १५ देखिए।

छिपी हुई थी। जिस 'ग्वालियर गढ़' के कारण मध्यकालीन हिन्दी को ग्वालियरी भाषा नाम मिला, उसके नाम शिलालेखों* और साहित्य में गोपपर्वत, गोपगिरीन्द्र, गोपाद्रि, गोपगिरि और गोपाचल आए हैं। जिन ध्वनि-विकारों के नियमों से 'गोपाल' का 'ग्वाल' बन गया, उन्हीं नियमों के अनुसार यह गोपगिरि ग्वालियर बन गया। गोप नाम आभीर संस्कृति का चिह्न है। इस आभीर-गोप संस्कृति के आराध्य कृष्ण हैं। कृष्णभक्ति का जो रूप सोलहवीं शताब्दी के पूर्व ग्वालियर में था वह गोपालकृष्ण परक थी, गोपांगना-परक तो वह गोकुल और वृन्दावन में बनी। जब नन्द के 'व्रज' मे ग्वालियर की भाषा भी समेटी जाने लगी, तब किसी का ध्यान उसकी ओर विशेष रूप से नहीं गया। बाबा नन्द की गौएँ गोपिकावेश में समस्त भारत में फैल गयीं, तब वे अपने साथ व्रजभूमि और व्रजराज की महिमा तथा व्रजभाषा नाम भी लेती गयीं। उनके द्वारा सबसे पहले 'ग्वालियरी भाषा' नाम चर लिया गया, यद्यपि पुष्टिमार्ग द्वारा हिन्दी को दिये गये एकमात्र महाकवि सूरदास भी ग्वालियर के थे और उनके पदों की शैली, भाषा और संगीत उन्हें ग्वालियर से ही मिला था। ग्वाल गोपीमय हो गये, परन्तु साथ ही गोपी भी गोपालमय बन गयीं। व्रजभाषा नाम तो 'ग्वालियरी' के स्थान पर आने लगा, परन्तु प्रयास करके भी उसका रूप न बदला जा सका, वह व्रज के चौरासी कोस में न समेटा जा सका और व्यापक ही रहा। विद्यापति की वाणी सफल हुई :—

गोपालो का गोपगिरि

> अनुखन माधव माधव सुमिरत सुंदरि भेलि मधाई।
> ओ बिन भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबुधाई।।

यह विवेचन हम आगे करेंगे कि पुष्टि सम्प्रदाय को संगीत और भाषा किस प्रकार ग्वालियर से प्राप्त हुई थी। यहाँ यह प्रकट कर देना

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', पृष्ठ ४५।

आवश्यक है कि जयदेव ने व्रजराज और राधारानी की माधुर्य भक्ति का रूप काव्य को बंगाल में दिया, मिथिला के विद्यापति ने उसे पल्लवित किया, और उड़ीसा-बंगाल-असम के कृष्ण-भक्त कवियों ने एक व्रजबोली की सृष्टि की, पुष्टि सम्प्रदाय ने आगे चलकर इस बोली को भाषा बना दिया और उस नाम की स्थापना ग्वालियरी भाषा पर करदी। जिस गेय पद-साहित्य का ग्वालियर में निर्माण हो चुका था तथा उसमें जिस काव्यभाषा के रूप की स्थापना हो चुकी थी, उसे ही केशवदास के शब्दों में 'नित्य विहारी मंत्र'* में दीक्षित कर 'मोहन-मंत्र-विधान' दिया गया और उससे 'तन-मन-धन' का संकल्प करा कर उसे व्रजभाषा नाम भी आगे दे दिया गया। यह रंग कुछ इतना गहरा चढ़ा कि भाषा के विकास का अध्ययन करने वाले उसके पार देखने की सामर्थ्य खो बैठे और उनकी दृष्टि में यह कभी न आ सका कि उसका काव्यभाषा का रूप ग्वालियर, अजमेर, जयपुर, महोबा, कालिंजर, गढ़कुंडार तथा ओड़छा में सँवारा गया है। वह मध्यदेश की व्यापक काव्यभाषा है, वह पहले ग्वालियरी, बुन्देलखंडी है, तब व्रज है। मध्यदेश की सीमा में—बहुत छोटी सीमा में वैष्णवन की वार्ता का

ग्वालियरी का तन-मन-धन संकल्प

* केशवदास : विज्ञान गीता, अष्टम प्रभाव, ३६-४२:—
नित्य विहारिनी की मढ़ी, त्रिय गए देखि सिहाति।
एक पियति चरणोदकनि, एक उसारनि खाति॥
पुत्री दक्षिण राज की, आयी तजि कुल तंत्र।
देउ कृपा करि याहि प्रभु, नित्य विहारी मन्त्र॥
सेवेगी तुमको सदन छोड़ि जु सर्व विकल्प।
तन धन मन को प्रथमही करवाये संकल्प॥
सिखये मन्दिर माझ लै, मोहन मन्त्र विधान।
तन दीनी गुरु दक्षिणा, सधर अधर मधुपान॥

व्रजमंडल है। वहाँ जो भी बोली बोली जाती थी वह भी शौरसेनी के क्षेत्र में समाविष्ट रही है—वह बोली थी, बोली है—काव्यभाषा नहीं। मध्यदेश की भाषा—ग्वालियरी का व्रजभाषा-नामकरण केवल एक सम्प्रदाय विशेष द्वारा उस समय के मुगल सम्राट, दरबारी, सामन्त, सेठ-साहूकारों को आकर्षित कर सकने के परिणामस्वरूप हुआ है; भाषा के रूप अथवा उसकी विकास परम्परा से इस नाम का कोई सम्बन्ध नहीं है।

हिन्दी गेय साहित्य का मूल

प्रत्येक प्राचीन भाषा ने अपना रूप संगीत के माध्यम से सँवारा है। आर्यों के घरबार की बोली सामगान में बँध कर वह संस्कृत काव्यभाषा बनी जिसके माध्यम से विश्व को चकित कर देने वाले साहित्य की सृष्टि हुई। जनभाषा जब परिनिष्ठित काव्यभाषा बन जाती है तब, लोक हृदय की सहज आनंदवृत्ति को उच्छ्वसित करने की शक्ति उसमें नहीं रहती। उसके जीवन का संगीत किसी नवीन लोकभाषा के माध्यम की खोज करने लगता है। नवीन गीत, नवीन पद, नवीन छन्द इस सरल सुबोध जनवाणी के आधार पर गुंजरित होने लगते हैं। उसके हृदयस्पर्शी रूप से विमोहित होकर समर्थ रचनाकार उसकी ओर आकर्षित होते हैं, उसमें काव्य-रचना प्रारम्भ होती है और कुछ शताब्दियों में वह समृद्ध और शालीन काव्यभाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। आज जब आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से विश्व की दूरी कम होगयी है, प्रचार और प्रसार के साधन अधिक होगये हैं, राष्ट्रव्यापी शिक्षा की व्यवस्था तथा विचारों के आदान-प्रदान के कारण यह आदिम प्रक्रिया शिथिल पड़ गयी है, तब भाषा-विकास के इस मूल को समझना कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु जिस समय मानव ने वैज्ञानिक साधनों पर अधिकार नहीं कर पाया था तब उसकी भाषा के विकास, विनाश और नवभाषा निर्माण की कहानी यही रहा करती थी। कोई भी भाषा एक दो सहस्राब्दियों से अधिक अक्षुण्ण और अपरिवर्तित रूप में लोकव्यवहृत भाषा नहीं रह सकी।

संगीत और भाषा

ईसवी पाँचवीं छठवीं शताब्दी में इसी प्रकार नवीन रागों, नवीन छन्दों और नवीन भावों से प्रेरित होकर एक भाषा का जन्म भारत देश

में हुआ था। दण्डी ने जब अपने काल की प्रचलित भाषाओं पर विचार किया तब उसे ज्ञात हुआ कि जनसाधारण ने परिनिष्ठित काव्यभाषा संस्कृत अथवा पाली का साथ छोड़ना प्रारंभ कर दिया है और उसके भ्रष्ट रूप का—अपभ्रंश का व्यवहार प्रारंभ कर दिया है। अतएव उसने काव्यादर्श में लिखा—

अपभ्रंश और संगीत

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता।

वास्तव में यह वही लोकभाषा थी जिसे आधार बनाकर दंडी के समय का जन-समाज अपने प्रकृत संगीत को मुखरित करने लगा था। यह संगीत न पुराने मार्गी संगीत के शास्त्रीय नियमों को मानता था और न उसकी भाषा को। संगीत शास्त्र के अध्येताओं ने भी इस विभेद को देखा और मतंग मुनि ने लगभग दण्डी के समय में इस देशी संगीत को इस सीमा तक विकसित पाया कि उसे अपनी पुस्तक बृहद्देशी में उसका वर्गीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस देशी संगीत के विषय में मतंग ने लिखा —

देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीति संज्ञित।

इस देशी संगीत के गाने वालों का उल्लेख भी मतंग ने कर दिया है—

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥

अबला, बाल, गोपाल और मौज में आकर राजा इस देशी में बड़े अनुराग से गाते थे। शिष्ट समाज में बैठकर तो राजा को भी मार्गी संगीत नियमबद्ध संस्कृत में सुनना पड़ता था। मतंग के ये गोपाल वही हैं, जिन्हें दण्डी ने आभीरादि कहा है। इन गोपालों का संगीत देशी था और उसकी भाषा—पदों के बोल थे आभीरादि की बोली अपभ्रंश—देशी भाषा में। इस प्रकार इस नवीन भाषा का रूप-निर्माण संगीत के माध्यम से प्रारंभ हुआ। दैनिक बोलचाल की भाषा बने रहने पर कभी उसका रूप व्यवस्थित और परिमार्जित नहीं हो सकता था।

जिस अपभ्रंश या देशी भाषा का उद्भव दण्डी के काव्यादर्श अथवा मतंग की बृहद्देशी के पहले हो चुका था, उसका रूप निर्माण सिद्धों के पदों द्वारा हुआ। जो सहजिया सम्प्रदाय के पद लिखे गये, वे मूलतः संगीत के स्वरों में गेय पद थे। उनके ये पद राग रागिनियों में बाँधे गये थे। अनेक सहजिया संत संगीत में पारंगत थे। लुइपा और कण्हपा के गायन की ख्याति अत्यधिक थी। जब इस भाषा में स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे महाकवियों ने अपने महाकाव्य लिखे तब उन्हें इस संगीत के माध्यम से सजी-सँवरी भाषा मिली। उनके काव्य भी मूलतः गायन के लिए ही थे, यह अवश्य है कि उनके समय तक उसकी निर्झर जैसी स्वच्छन्द एवं प्रकृत उत्फुल्लता महासमुद्र के गंभीर घोष के रूप में परिणत होगयी थी। इस भाषा का एक मोड़ नाथ पंथ के पदों में दिखाई देता है। स्वयंभू और पुष्पदंत की वरिष्ठ भाषा अब संगीत के काम की नहीं रही थी। उसने रूप बदला। यह रूप जितना बदला जा सका, उतना ही अन्तर लुइपा और गोरखनाथ की भाषा में है। गोरखवाणी भी संगीत के स्वरों में आबद्ध है। उनके सम्प्रदाय और संगीत को साथ लेकर वह दक्षिण में पहुँची और वे ही बोल तथा ध्वनियाँ ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ आदि के पदों में सुनाई दीं।

सिद्ध और नाथ

बंगाल के सेनवंशी लक्ष्मणसेन के आश्रित महान कविगायक जयदेव (११७६-१२०५ ई०) के आविर्भाव ने भारत के संगीत और साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। जयदेव एक विचित्र सांस्कृतिक संधि के समय हुए थे। नालन्दा विश्वविद्यालय की देन सहज संप्रदाय का प्रभाव जिस भूमि पर था, उसी भूमि पर वे अवतरित हुए। उसी काल में निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी द्वारा प्रतिपादित कृष्णभक्ति भी लोकप्रिय होती जा रही थी। जयदेव के गीतगोविन्द ने कृष्ण भक्ति को समस्त उत्तर भारत में लोकप्रिय बना दिया। उनका संगीत सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों द्वारा

जयदेव

पोषित था और उनकी भावना इन्हीं वैष्णव भक्तों की थी। जयदेव स्वय भी माध्व के अनुयायी कहे जाते हैं तथा वे जयपुर और वृन्दावन भी आए थे *। कहा तो यह भी जाता है कि गीतगोविन्द प्रारम्भ में देशी भाषा में लिखा गया था, परन्तु यह अनुमान ठीक ज्ञात नहीं होता। सगीत के माध्यम से सस्कृत भाषा द्वारा लोकरजन का अन्तिम प्रयास गीतगोविन्द है। वह बहुत सीमा तक सफल भी हुआ। उसके द्वारा सस्कृत की पुन लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठा तो न हो सकी, परन्तु लोक सगीत की भाषा का रूप उससे प्रभावित अवश्य हुआ। उसका परोक्ष प्रभाव सिद्धनाथ परपरा के ब्राह्मण विरोधी सत कबीर, रैदास, पीपा, जमनाथ, दादू आदि की वाणियों में दिखाई दिया और यही परोक्ष प्रभाव दक्षिण के नामदेव, ज्ञानदेव आदि की वाणी पर भी पडा। वैष्णव भक्तों की वाणी पर तो जयदेव का प्रभाव राजस्थान से बगाल तक प्रत्यक्ष दिखाई देता है। पूरब में विद्यापति, चण्डीदास और स्वय चैतन्यमहाप्रभु के गेय पदसाहित्य की भाषा पर जयदेव की स्वर-लहरी की स्पष्ट छाप है। इन गीतों की भाषा सस्कृत की ओर अधिक उन्मुख है, मानो अपने आपको जयदेव की भाषा के साथ मिला देना चाहती है। वृन्दावन की सतत यात्राओं से उनके भावुक हृदयों पर यहाँ की भाषा की भी छाप रह गयी और बगाल, असम तथा उडीसा में जयदेव, विद्यापति और वैष्णवों की तीर्थस्थली वृन्दावन की मिश्रित भाषा ब्रजबोली उनकी भक्ति भाषा बन गयी। जयदेव की वाणी ने मेवाड में राणा कुम्भा को आकर्षित किया और उसका अत्यन्त मजुल रूप मीराबाई के सगीत और साहित्य में दिखाई दिया। ग्वालियर अपना सगीत धीरे धीरे उत्कर्ष की ओर ले जा रहा था। परन्तु जयदेव की मधुर भक्ति का प्रभाव उसके साहित्य की भावना पर भी अवश्य पडा था।

तेरहवीं शताब्दी तक मध्यदेश की अपनी प्रथक सगीत परम्परा थी

---

* परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सतपरपरा, पृष्ठ ६७।

और यह पूरव की इस धारा से बहुत कम प्रभावित थी। धुर पश्चिम और मध्यदेश में वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण जो संगीत पनप रहा था, तथा उसके सहारे जो भाषा बन रही थी उसके विषय में अभी अधिक खोजबीन नहीं हुई है। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में उसका अत्यन्त विकसित रूप प्राप्त होता है। उसके आधार पर कुछ शताब्दियों पहले की उसकी रूपरेखा सामने अवश्य आती है। ईसवी तेरहवीं शताब्दी में पार्श्वदेव ने संगीतसमयसार ग्रंथ लिखा। उसमें उसने काश्मीर के राजा मातृगुप्त, धार के राजा भोज, अनहिलवाड के चालुक्य राजा सोमेश्वर तथा महोबा के चन्देल राजा परमार्दिदेव को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। पार्श्वदेव स्वयं अपने आपको संगीताकर कहता है। उसके विषय में केवल यह ज्ञात होता है कि वह पहले ब्राह्मण था और फिर जैन धर्म में दीक्षित हो गया। तेरहवीं शताब्दी में यह धर्म परिवर्तन कहीं पश्चिम में ही संभव हो सकता है, अतएव हमारा अनुमान है कि पार्श्वदेव मध्यदेश के हो सकते हैं। यहीं पर वे गुजरात के चालुक्य, महोबे के परमार्दिदेव तथा मालवे के भोज की संगीत पद्धतियों के संपर्क में आए होंगे। यह खेद का विषय अवश्य है कि अभी तक तेरहवीं शताब्दी का मध्यदेश का पदसाहित्य नहीं मिल सका है, परन्तु जिन चन्देलों की राजसभा में नन्द कवि जैसे पदरचयिता, जगनायक जैसे प्रबन्धगायक तथा स्वयं परमार्दिदेव जैसे संगीत-मर्मज्ञ रहे हों, वहाँ उनके द्वारा पोषित हिन्दी में पद न लिखे गये हों, यह सम्भव नहीं, जब कि संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों में संगीताचार्य का यह प्रधान लक्षण माना गया है कि उसे छन्द अलंकार, भाषा एवं पदरचना में दक्ष होना चाहिए। कठिनाई यही है कि उनके द्वारा किसी सम्प्रदाय के पोषण में पदरचना नहीं की गयी। इस कारण किसी मठ या साम्प्रदायिक प्रतिष्ठान में उनकी रक्षा नहीं की गयी। राजकीय पुस्तकालयों को विदेशी आक्रान्ताओं ने नष्टभ्रष्ट कर दिया।

पार्श्वदेव और मध्यदेशीय संगीत

ईसवी चौदहवीं शताब्दी में मध्यकालीन संगीत एवं इसके पदों का रूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है। दिल्ली में अमीर खुसरो और उससे टक्कर लेने वाला गोपाल नायक * दोनों ही मध्यदेश के संगीत के प्रकाण्ड आचार्य थे। इस शताब्दी में भारतीय संगीत में क्रान्ति उत्पन्न करने वाली घटना भी हुई। भारतीय संगीत ईरानी संगीत के निकट सम्पर्क में आया। इन दोनों की पुष्ट परम्परा के सम्मिश्रण से संगीत में एक नयी चपलता, ताज़गी और उत्फुल्लता आगयी। गोपाल नायक ने अनेक पद लिखे और उनके तथा अनेक अज्ञात-नाम संगीतज्ञों के द्वारा भाषा का रूप निखरने लगा। गोपाल के १२०० शिष्य थे जो उसके सिंहासन को अपने कंधों पर उठाकर चलते थे। उस काल के हिन्दू राजाओं की राजसभाओं में चारण-भाटों द्वारा भी संगीत तथा उसकी अनुगामिनी भाषा पनपती रही। उसी को शेख तकी ने भाटों की भाषा और संगीत-शैली कहा है, † जो लोकरंजक तथा प्रभावशाली भी थी।

मध्यदेश—चौदहवी शताब्दी

ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के गेय साहित्य का इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट है। इस शताब्दी में मध्यदेश के संगीत ने वह रूप धारण किया जिसके कारण "तान ग्वालियर की, औ कमान मुल्तान की" जैसी उक्तियाँ प्रचलित हुई। इस शताब्दी मे मेवाड़ के राणा कुंभकर्ण (राणा कुम्भा), मालवे के खिलजी, जौनपुर के शर्की, दिल्ली के लोदी, सभी देशी संगीत को प्रश्रय देने लगे थे। मेवाड़ के राणा कुम्भकर्ण ने संगीतराज नामक संगीत का ग्रन्थ लिखा और रसिक प्रिया नामसे गीतगोविन्द की टीका भी लिखी। कुम्भकर्ण की दृष्टि में भारतीय संगीत की त्रुटियाँ नहीं थीं।

मध्यदेश—पन्द्रहवी शताब्दी

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६५।

† देखिए पीछे पृष्ठ ४३।

वे सस्कृत तथा मार्गी को पकडे रहना चाहते थे। गुजरात, मालवा, जौनपुर और दिल्ली में जो देशी भाषा म हल्के-फुल्के चपल राग चल पडे थे, उनके मुकाबिले मे यह शास्त्रीय गभीर सगीत कितना ठहर सकेगा, यह वे न सोच सके। परन्तु राणा कुम्भा के गीतगोविन्द की मधरवाणी की ओर आकर्षित होने के कारण एव मगील साधना की ओर प्रवृत्त होने के कारण हिन्दी को मरु कोकिला मीरा की पदावली प्राप्त हुई। मानव हृदय की अपने आराध्य के प्रति प्रेम भावना एव तन्मयता की जो उद्दाम और मनोहारी अभिव्यक्ति मीरा द्वारा हुई है, वह अन्यत्र न मिल सकी, अष्टसखाओं की वाणी म भी नहीं। वैसे तो राजस्थान का पद-साहित्य गलता की रामानन्दी गद्दी के पयहारी और अग्रदास की रचनाओं मे भी मिलता है। स्वामी रामानन्द जी के शिष्यों में अनन्तानन्द थे। उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी ने जयपुर के पास गलता जी म नाथो की गद्दी पर अधिकार कर लिया। कृष्णदास जी में रामानन्द एव नाथों की परम्पराओं का मिश्रण हुआ। उनके द्वारा गेय पद साहित्य की परम्परा चलती रही।

पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व दिल्ली मे ख्याल गायकी प्रचलित हुई। इस ख्याल गायकी को ग्वालियर के सगीतज्ञो ने अपनाया। इन ख्यालो की भाषा हिन्दी ही होती थी, परन्तु बीच-बीच मे फारसी के शेर भी मिला दिए जाते थे*। यह अमीर खुसरो की देन है। जौनपुर मे चुटकुला चल पडा था। जौनपुर के सुल्तान हुसेन शर्की का यह प्रिय राग था। ग्वालियर से जौनपुर का मैत्री सम्बन्ध हो गया था, जहाँ एक राग मानकाल भी प्रचलित हुआ। यह राग ग्वालियर के मान का मान करने के लिए ही निर्मित ज्ञात होता है। मुल्तान में शेख बहाउद्दीन जकरिया रागों का मिश्रण कर रहे थे। गुजरात का सुल्तान हुसेन

भारतीय सगीत पर ईरान का आक्रमण

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६७।

बहादुर भी भारतीय रागों को ईरानी रूप में ढाल रहा था। ऐसे समय में पुराने शास्त्रीय संगीत को पकड़े रहने से उसका लोप होना अनिवार्य था।

इस संकट को ग्वालियर के तोमरों ने और विशेषत मानसिंह तोमर ने देखा और समझा। यद्यपि देशी संगीत का प्रारम्भ मतंग मुनि की बृहद्देशी के समय से ही हो गया था, परन्तु अब तक उसे संगीत शास्त्रियों मे मान्यता नहीं मिल सकी थी, जिसका प्रमाण राणा कुम्भकर्ण का संगीत निरूपण है। वह देशी संगीत अभी उसी स्थिति में था जिसमें कुवलयमाला की देशी भाषा थी, जिससे पंडित वर्ग नाक-भौं सिकोड़ने लगता था। मानसिंह तोमर ने नियमों से जकड़े हुए मार्गी को विदा दी और उसके स्थान पर देशी को प्रस्थापित किया। इसके विषय में मानसिंह रचित मानकुतूहल का फारसी मे अनुवाद करने वाले फकीरुल्ला ने लिखा है —

ग्वालियर की संगीत को देन

"मार्गी भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। कहते हैं कि राजा मानसिंह ने उसे (ध्रुपद को) पहली बार गाया था, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसमें चार पंक्तियाँ होती है और सारे रसो मे बाँधा जाता है। नायक बैजू, नायक बख्शू और सिद्ध जैसा नाद करने वाले महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड़ गये। इसके दो कारण थे। पहला यह कि ध्रुपद देशी भाषा में देशवासी गीत था तथा मार्गी में संस्कृत थी। इसलिए मार्गी पीछे हट गया और ध्रुपद आगे बढ़ गया। दूसरा कारण यह था कि मार्गी एक शुद्ध राग था और ध्रुपद में सब रागों को थोड़ा थोड़ा लिया गया है* ।"

मानसिंह तोमर के पूर्व गोपाल नायक के समय से ही हिन्दी में— मध्यदेश की हिन्दी मे गेयपद लिखे जाते थे, परन्तु मानसिंह ने उन्हें

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६१।

अपनी शास्त्रीय व्यवस्था देकर संगीताचार्य नायकों में मान्य रूप दिया।

हिन्दी की पदरचना को संगीत में मान्यता

मानकुतूहल की रचना ही उसने उस समय के देश के सभी प्रतिष्ठित संगीताचार्यों के परामर्श और सहयोग से की थी। उसकी राजसभा में तो रामदास, बख्शू और बैजू जैसे महान गायक थे ही, उसने गुजरात से महमूद लोहंग, पूर्व से नायक पांडवीय और दक्षिण से नायक कर्ण को भी बुलाया और इन सबके परामर्श से मानकुतूहल की रचना की। इस प्रकार देशी संगीत और देशी भाषा को सर्वमान्य प्रतिष्ठा मिल गयी। उसके द्वारा उसने अपनी ध्रुपद गायकी पर भी मुहर लगवा ली जिसे ग्वालियर ने विकसित किया था। मानकुतूहल में नायक संगीताचार्य के लिए पदरचना की योग्यता की पुन: पुष्टि की गयी "श्रेष्ठ गायक तथा गीतरचयिता को व्याकरण का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। पिंगल और अलंकार का भी अच्छा ज्ञान अनिवार्य है तथा उसे रस और भाव का भी अच्छा ज्ञान आवश्यक है। "गीतरचयिता होना तथा गायन की ओर हार्दिक रुचि होना भी गायनाचार्यों को अभीष्ट है। उसके गीत के विषय विचित्र और अनूठे होना चाहिए। उसे प्राचीन रचनाएँ कण्ठस्थ होना चाहिए*।" परिणाम यह हुआ कि जो पद रचना गोपाल नायक के पहले प्रारम्भ होगयी थी, मानसिंह तोमर के राज्य-काल में उसे बहुत अधिक विकसित होने का अवसर मिला। मानसिंह ने स्वयं बहुत पद लिखे। फकीरुल्ला ने लिखा है "सावंती, लीलावती पाडव, मानशाही, कल्याण—इनके गीत ग्वालियर वाले राजा मान ने लिखे हैं†।" उल्लेख यह भी मिलता है कि राजा मानसिंह तोमर ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था, जिसमें प्रत्येक वर्ग की रुचि के अनुरूप पद संग्रहीत थे‡।

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ १२२

† वही, पृष्ठ ८०।

‡ ग्लेडविन: आईने अकबरी, पृष्ठ ७३०।

भावभट्ट के अनूपसंगीतरत्नाकर का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। हम यह भी लिख चुके हैं कि भावभट्ट बीकानेर के राजा अनूपसिंह (सन् १६७४-१७०१) के आश्रित थे तथा संगीतशास्त्र के महान पण्डित थे।

ध्रुपद के पदों का रूप

अपने इस अनूपसंगीतरत्नाकर में भावभट्ट ने मानसिंह तोमर द्वारा प्रचलित ध्रुपद का लक्षण देकर तोमर कालीन ग्वालियरी भाषा और उसके साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। भावभट्ट ने लिखा है :—

अथ ध्रोपद लक्षणम्
गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम्।
द्विचतुर्वाक्यसंपन्नं नरनारीकथाश्रयम् ॥१६५॥
शृंगाररसभावाढ्य रागालापपदात्मकम्।
पादातानुप्रासयुक्तं पादान्तयमकं च वा ॥१६६॥
प्रतिपाद यत्र बद्धमेवं पाद-चतुष्टयम्।
उद्ग्राह ध्रुवकाभोगोत्तम ध्रुवपद स्मृतम् ॥१६७॥

ग्वालियर के ध्रुपद के लक्षण में भावभट्ट ने तत्कालीन पद-साहित्य के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हमें बतला दी हैं। यह ध्रुपद संस्कृत के अतिरिक्त मध्यदेशीय भाषा एवं साहित्य में राजित था, अर्थात भावभट्ट के समय अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक मध्यदेशीय भाषा और साहित्य अपना विशिष्ट रूप और अस्तित्व रखते थे। ये पद छोटे-छोटे, दो-चार वाक्यों के, चार चरणों के होते थे। इनमें नरनारी की कथाएँ वर्णित होती थीं। इनका मूल रस शृंगार था। पदों के अन्त में अनुप्रास अथवा यमक रहता था। उसके गेय होने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता थी, वे भी उसमें थे। मानसिंह तोमर कालीन गेय पद-साहित्य का समग्र रूप ही भावभट्ट ने ध्रुपद के लक्षण के ब्याज से प्रस्तुत कर दिया है। फकीरुल्ला और भावभट्ट के कथनों को एक साथ देखने से, ग्वालियर के संगीत ने हिन्दी के रूप-निर्माण में जो योग दान किया था, उस पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। ग्वालियरी ध्रुपद की

संगीतलहरी जिस गेय पद-साहित्य के आधार पर निःसृत हुई थी, उसी ने मध्यदेशीय भाषा को नवीन परिमार्जित रूप में ढाल कर उसे ग्वालियरी भाषा नाम दिया।

ग्वालियर का पद-साहित्य — विष्णुदास

यह तथ्य स्मरणीय है कि यह पद-रचना मानसिंह के बहुत पूर्व से ही ग्वालियर में प्रारम्भ हो गयी थी। गोस्वामी विष्णुदास का पद-साहित्य उनके रुक्मिणी मंगल मे प्रचुर परिमाण में मिला है। विष्णुदास डूंगरेन्द्रसिंह तोमर (१४२४-१४५५) के समकालीन थे। इनका रचनाकाल सन् १४३५ ई० के लगभग माना गया है। इनके पदों में भाषा तथा भावों का जो रूप मिलता है वह स्पष्ट घोषित करता है कि उसकी परम्परा कम से कम दो सौ वर्ष पहले की है। रागरागिनियों में बँधे हुए ये पद मध्यदेश की संगीत पद-परम्परा के पन्द्रहवी शताब्दी के प्रथम चरण तक के विकास के सुन्दर उदाहरण हैं। यहाँ हम विष्णुदास के कुछ पद रुक्मिणी मंगल से उद्धृत करते हैं.—

राग गौरी

गुण गाऊँ गोपाल के चरण कमल चित लाय।
मन इच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय॥
भीषम नृप की लाडली कृष्ण ब्रह्म अवतार।
जिनकी अस्तुति कहत हौं सुन लीजो नरनार॥

रागनी पूर्वी

आज बधाई बाजे माई बसुदेव के दरबार।
मन मोहन प्रभु ब्याह वर आए पुरी द्वारिका राजै॥
अति आनन्द भयो है नगर में घर घर मगल गाई।
अगन तन मे भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज॥
बाजे बाजत कानन सुनियत नौबत घन ज्यू बाज।
नर नारिन मिलि देन बधाई सुख उपजे दुख भाज॥

नाचत गावत मृदग बाज रग बरसावत ग्राज ।
विष्णुदास प्रभु की ऊपर कोटिक मन्मथ लाज ॥

पद

तुछ मत मोरी, थोरी सी, बौराई, भाषा काव्य बनाई ।
रोम रोम रसना जो पाऊँ महिमा वर्ण नहि जाई ॥
सुरनर मुनि जन ध्यान धरत हैं गति तिनहूँ नही पाई ।
लीला अपरम्पार प्रभु की को करि सकै बडाई ॥
वित्त समान गुन गाऊँ स्याम के कृपा करी जादोराई ।
जोकोई सरन पडे है रावरे कीरति जग में छाई ॥
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी से प्रीति लगाई ॥

कबीर का जन्म ई० सन् १३६६ का बतलाया जाता है* । वे सौ वर्ष से ऊपर जीवित रहे थे । विष्णुदास की भाषा से ज्ञात होता है कि उसकी भाषापरम्परा कम से कम एक-दो शताब्दी पहले की है ।

कबीर और विष्णुदास

कबीर का रचनाकाल विष्णुदास के पश्चात का ही होना चाहिए । काशी के कबीर को नाथ-पथ के पदों की परम्परा मिली थी । परन्तु उनकी भाषा पर इस संस्कृत-शब्दावली-प्रधान मध्यदेश की भाषा का प्रभाव स्पष्ट है :—

बहुरि हम काहे कू आवहिंगे ।
बिछुरे पच तत्त्व की रचना तब हम रामहि पावेंगे ।
पृथ्वी का गुण पानी सोष्या पानी तेज मिलावहिंगे ॥†

कबीर और विष्णुदास की भाषा की तुलना करते समय कुछ तथ्य विशेष रूप से स्मरणीय हैं । हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर उसमें

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : महात्मा कबीर, पृष्ठ ४६ ।

† डॉ० रामकुमार वर्मा . कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ १४१ ।

देववाणी कहलाने वाली भाषा से रूपसाम्य लाने का प्रयास केवल नवीन शब्दों की आवश्यकता के कारण नहीं हुआ था, जैसा श्री राहुल जी ने विचार व्यक्त किया है * । इसके पीछे प्रधान कारण ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान था। उस समय के समस्त हिन्दू धर्मावलम्बी राजाओं की राजसभाओं में यह कार्य हुआ । संस्कृत का प्रचार यद्यपि राजसभाओं मे राज-पंडितों मे था, किन्तु उसके द्वारा जनसम्पर्क नहीं साधा जा सकता था । जन साधारण में अपभ्रंश अथवा उससे प्रभावित हिन्दी का प्रचार था। इधर उस समय तक अपभ्रंश भाषा जैन धर्म की पर्यायवाची हो गयी थी और आज भी है। अतएव जब देशभाषा को वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए स्वीकार करना ही पड़ा, तब उसका वह रूप ग्रहण नहीं किया गया जो जैन मतावलम्बियों ने प्रचलित रखा था, जिसमे सप्रयास संस्कृत का तत्सम अथवा तद्भव रूप भी वर्जित था । सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय भी ब्राह्मण-विरोधी होने के साथ-साथ प्रचार कार्य में संस्कृत के विरोधी थे और इस प्रकार संस्कृत के बहिष्कार की लहर भी समस्त देशव्यापी हो गयी थी। राजस्थान की राजसभाओं के चारणों-भाटों द्वारा संस्कृत शब्दों को भाषा में स्थान तो दिया गया, परन्तु जैन प्रभाव से पूर्णतः आबद्ध होने के कारण वे रूढ़ियों को पूर्णतः तोड़ न सके। उनकी भाषा इन दोनों प्रवृत्तियों के बीच समझौते की भाषा है। चन्दवरदायी (ई० ११६८) ने दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान की राजसभा में इस प्रकार की भाषा लिखी :—

संस्कृत शब्दों का प्रयोग क्यों ?

मनहुं कला ससभान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय ॥
बिगसि कमल स्रिग, भमर, बेनु, खजन, मृग लुट्टिय ।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नख सिख अहिघुट्टिय ॥

* राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका ।

समस्त पद्य संस्कृत पदावली से विभूषित कर 'वन्निय'-'पिन्निय' तथा 'तुट्टिय'-'घुट्टिय' चन्द की भाषा सम्बन्धी असमर्थता के कारण नहीं आए हैं, समझौते की भावना से आए हैं। संस्कृत शब्दावली राजस्थान के जैन प्रभाव से दूर दिल्ली में मुक्त होने के कारण तथा हिन्दू चौहानों के प्रभाव के कारण है। अजमेर और दिल्ली में ही बहुत अन्तर था। अजमेर का नरपति नाल्ह (ई० ११५५) का चरितनायक और संभवतः आश्रयदाता भी, जगन्नाथ का भक्त था, फिर भी वह इस प्रकार की भाषा लिखता था:—

> क्यू विसरायो गोरी पूरब देश ?
> पाप तणउ तिहा नहीं प्रवेश ॥
> अति चतुराई दीसई घणी।
> गंगा गया छै तीरथ योग ॥
> वाराणसी तिहा परसने।
> तिणि दरसण जाई पातग न्हासि ॥

इस काल में जैसे-जैसे अजमेर के पश्चिम की ओर चलते जाएँ भाषा का पूर्वप्राकृत रूप बढ़ता ही मिलता जायगा, यहाँ तक कि हेमचन्द्र सूरि के गुर्जर देश में पहुँचते-पहुँचते वह वर्तमान गुजराती का प्राचीन रूप बन जाती है। मध्यकाल में संस्कृति पर धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता था। गुजराती और हिन्दी को भिन्न-भिन्न भाषाओं का रूप देने में जैन धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। मराठी, मैथिली और बंगला का केन्द्रीय भाषा से विभेद उत्पन्न करने में सिद्ध और नाथों का कितना हाथ रहा है, यह लिख सकना सम्भव नहीं, क्योंकि उनके विकास में अन्य तत्त्व भी कार्य कर रहे थे। यह तो स्पष्ट ही है कि उर्दू को केन्द्रीय हिन्दी भाषा से इस्लाम ने पृथक किया है।

धर्म का भाषा पर प्रभाव

कबीर सिद्ध और नाथ पन्थ की ब्राह्मण विरोधी परम्परा को लिये हुए थे, साथ ही रामानन्द के शिष्य भी थे। उस शिष्यत्व के कारण तो

उनके पदों में संस्कृत-हिन्दी का रूप आया, तथा सिद्ध-नाथों की परंपरा के कारण उनके द्वारा अनेक रचनाओं में उस शिष्ट काव्यभाषा की अवहेलना हुई। उनके द्वारा मुस्लिम भक्तों को भी प्रभावित करने का प्रयास किया गया। यद्यपि शेख़तक़ी तक पहुँचने के लिए उनके द्वारा फारसी-अरबी के शब्दों का भी विशेष रूप से प्रयोग हुआ, परन्तु वेद-कतेब का साथ-साथ खण्डन करने पर उन्हें दुर्दशा ही भोगनी पड़ी। 'वेद' को मान्यता देने वाले सहिष्णु तो सह गये, परन्तु 'कतेब' वालों ने उन्हें काशी से मगहर भेज कर ही चैन लिया। उस समय ग्वालियर में जिस संस्कृत प्रधान शालीन और शिष्ट काव्यभाषा का निर्माण हुआ था, उसे अंगीकार करके भी, साम्प्रदायिक परिस्थितियों के कारण कबीर की भाषा डगमगाती रही, मसिकागद छूयो नहीं के कारण नहीं। इतना अवश्य है कि कबीर की रचनाओं की भाषा यह प्रकट करती है कि ग्वालियर में विष्णु-दास और उसके पूर्व देशी भाषा को संस्कृत-परक बना कर जो शालीन रूप दिया गया था उसको कबीर के समय में पूरब में काशी और मगहर तक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। कबीर और विष्णुदास की भाषा की समता यह स्पष्टतः प्रकट कर देती है।

कबीर की भाषा

विष्णुदास के पश्चात जो पद-साहित्य मिला है वह मानसिंह तोमर के समय का है। मानसिंह तोमर की सभा में यद्यपि अनेक संगीतज्ञ थे, परन्तु इनमें बैजू तथा बख्शू नायक विशेष उल्लेखनीय हैं। बैजू के पदों में काव्यत्व गुण अधिक है और बख्शू का ध्यान संगीत की ओर अधिक रहा। बैजू का एक पद है :—

बैजू और बख्शू

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुध बुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन।

जीव जन्तु पसु पछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सबके प्रानन।
बैजू बनवारी बसी अधर धरि वृंदावन चन्द बस लिये सुनत ही कानन॥

नायक बख्शू का ध्यान पद के रस और भाव की ओर उतना न था। उसका एक ध्रुपद का पद है * —

राग सुहारु उदय नवरग पगी,
उत देख प्यारे कर दर्पण में।
निरखि चहूँ दिसि अलि नैनन जब ही,
प्यारी सजली भई भोर मगाई।

आज के संगीतज्ञों एवम् पुस्तक संग्राहकों की पिटारी मे ये पद भरे पड़े हैं। जब उनका समग्ररूपेण उद्धार हो सकेगा, तब यह परम्परा पूर्णत सामने आ सकेगी।

इन पदों के आधार पर नि सृत संगीत की धाक चारों दिशाओं मे जमा कर और ग्वालियर की तान तथा ग्वालियरी भाषा को स्थायित्व देकर तोमरों की राजसभा मानसिंह की मृत्यु (सन् १५१७ ई०) के पश्चात कुछ वर्षों में ही बिखर गयी। ग्वालियर की गायकी को ओड़छा, रीवाँ, गुजरात, सीकरी, दिल्ली आदि राजदरबारों में स्थान मिला। उसके गुणग्राहक सब जगह मौजूद थे, परन्तु उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट किया ब्रजभूमि और अकबरी दरबार ने। इस प्रकार ग्वालियर के गायक और उनके साथ ग्वालियरी भाषा उत्तर की ओर गयी। जिन गायकों का भक्ति की ओर झुकाव था वे वृन्दावन, गोकुल और मथुरा मे रम गये, और जिन्हें वैभव प्रिय था वे मुगल राजसभा में पहुँच गये या बुला लिये गये।

ग्वालियरी संगीत और पदसाहित्य का विकेन्द्रीकरण

सूरदास के जन्मस्थान तथा उनकी भाषा पर विशेष प्रकाश हम आगे डालेंगे। यहाँ यह देखना है कि ग्वालियर का संगीत और

* बख्शू का यह पद हमने फकीरुल्ला के मानकुतूहलके अनुवाद से लिया है, वह फारसी लिपि में होने के कारण ठीक नहीं पढ़ा जा सका।

पदसाहित्य सूरसागर में भी मिलता है और उसकी एक धारा मुगल दरबार में भी रसवर्षण करने लगी थी। श्री भातखण्डे का कथन है कि अकबर बादशाह के दरबार मे जो प्रसिद्ध गायक होते थे, वे सारे ध्रुपदिये अर्थात् ध्रुपद गाने वाले ही होते थे* । अकबरी दरबार में अबुल फजल द्वारा आईने अकबरी में छत्तीस सगीतज्ञों की नामावली दी गयी है। इनमें से पन्द्रह ग्वालियर के थे† :—

मुगल दरबार और ग्वालियरी सगीत

मियां तानसेन ग्वालियर वाले :	जिसके समान कोई गायक पिछले एक हजार वर्ष से भारतवर्ष में नहीं हुआ।
बाबा रामदास ग्वालियर वाले	गायक
सुभान खां ग्वालियर वाले	गायक
श्रीज्ञान खां ग्वालियर वाले	गायक
मियां चांद ग्वालियर वाले	गायक
विचित्र खां सुभान खां के भाई	गायक
वीर मडल खां ग्वालियर वाले	सरमंडल वादक
शिहाब खां ग्वालियर वाले	बीन वादक
सरोद खां ग्वालियर वाले	गायक
मियां लाल ग्वालियर वाले	गायक
तानतरंग खां तानसेन का पुत्र	गायक
नानक ग्वालियर वाले	गायक
नायक चर्चू ग्वालियर वाले	गायक
सूरदास बाबा रामदास का पुत्र	गायक
चांद खां ग्वालियर वाले	गायक

* विष्णु नारायण भातखण्डे हिन्दुस्तानी सगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका, चौथी पुस्तक, पृष्ठ ४६।

† ब्लोचमन : आईनेअकबरी, पृष्ठ ६८०-६८२।

इनमें से तानसेन के विषय में अबुलफजल ने जो कुछ लिखा है उसके साथ मानकुतूहल के फारसी में अनुवाद करने वाले फकीरुल्ला ने जो लिखा है वह भी मानसिंह की राजसभा के संगीत वैभव पर विशेष प्रकाश डालता है। फकीरुल्ला लिखता है 'संगीत रसिकों को ज्ञात होना चाहिए कि रागसागर स्वर्गवासी सुल्तान अकबर के समय में रचा गया, और इसमें बहुत से राग 'मानकुतूहल' के विपरीत लिखे गये हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मानकुतूहल और 'रागसागर' के काल में बहुत अंतर है। उस समय नायक (गायनाचार्य) थे, परन्तु अकबर के काल में कोई भी गायक संगीत-शास्त्र के सिद्धान्तों में राजा मान के काल के गायकों को नहीं पाता। दूसरे, सम्राट अकबर के समय बहुधा अताई व्यक्ति थे, जिन्हे गायन का व्यावहारिक ज्ञान तो था, परन्तु वे गायन के सिद्धान्त से अपरिचित थे। मियां तानसेन, सुभान खां फतेपुरी, चांद खां और सूरज खां (दोनों भाई थे) मियां चांद जो तानसेन का शिष्य था, तानतरंग खां तथा विलास खां जो तानसेन के पुत्र थे, रामदास मुंडिया ढाढी, मदन खां, मुल्ला इशहाक खां ढाढी, खिजर खां, इनके भाई नवाब खां, हसन खां ततबनी—सभी अताई श्रेणी में आते हैं। बाज बहादुर—नवाब मालवा, नायक चर्जू, नायक भगवान, सूरतसेन—मियां तानसेन के पुत्र, लाला और देवी (दोनों ब्राह्मण भाई) चांद खां का लडका आकिल खां – ये किसी न किसी मात्रा में संगीत के सिद्धान्तों से परिचित थे, परन्तु फिर भी नायक बैजू, नायक पांडे तथा नायक बख्शू की भाँति संगीत के आचार्य नहीं थे* ।' नायक बैजू का उल्लेख फकीरुल्ला ने भारत के सर्वश्रेष्ठ नायक गोपल के समकक्ष किया है †। बख्शू की ख्याति भी अद्वितीय है। बख्शू मानसिंह के पश्चात भी ग्वालियर में रहा। मानसिंह के पुत्र विक्रमाजीत के पानीपत में मरने के

तानसेन

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल पृष्ठ १२९ १३०।
† वही, पृष्ठ ८४।

पश्चात (सन् १५२६) ही वह कालिंजर के राजा कीरत के आश्रय में चला गया। कालिंजर से उसे गुजरात के सुल्तान बहादुर (ई० १५२६-१५३६) ने बुला लिया*।

तानसेन मकरन्द पाडे के पुत्र थे और उनका जन्म ग्वालियर के पास बेहेट नामक ग्राम मे हुआ था। इनका पूर्व नाम त्रिलोचन पाडे था।

तानसेन का प्रारंभिक जीवन

इनने स्वामी हरिदास से पिंगल सीखा तथा सगीत की भी शिक्षा ली। कुछ समय मुहम्मद गौस से गायन विद्या सीखी, जिसके कारण वे त्रिलोचन से तानसेन भी बने और उन्हें ईरानी सगीत की चपलता भी मिली। यहाँ से वे शेर खा (शेरशाह) के पुत्र दौलत खा के पास चले गये। उसके पश्चात वे रीवाँ नरेश राजा रामचन्द बघेला की राजसभा में चले गये। इनके सगीत की ख्याति सम्राट अकबर तक पहुँची। अकबर ने रामचन्द्र को विवश किया कि वे तानसेन को उसकी सभा में भेज दें। इस प्रकार सन् १५६४ ई० में ग्वालियर का यह महान कलावन्त उस समय के ससार की सबसे महान राजसभा की नवरत्नमाला का मणि बना।

ग्वालियर के सगीत और पद साहित्य की दूसरी धारा उसकी भक्त मडली के साथ गोकुल वृन्दावन गयी। वृन्दावन पर बगाल की भक्ति-भावना का प्रभाव पड़ा। जयदेव से चैतन्य महाप्रभु तक की दृष्टि वृन्दावन

हरिदास की डागुर वाणी

की ओर रहा। परन्तु यहाँ गौडीय सगीत प्रभाव न जम सका। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में ही ग्वालियर का सगीत मथुरा-वृन्दावन पहुँच चुका था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक यहाँ के सन्त ध्रुपद को अपना चुके थे। मथुरा के विष्णुपद और हरिदास की डागुर वाणी सगीत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। विष्णुपदों की हिन्दी में सर्वप्रथम रचना विष्णुदास की

---

* ब्लोचमन आईन अकबरी, पृष्ठ ६७६।

मिलती है। परिशिष्ट में हमने विष्णुदास के कुछ पद दिये भी हैं। हरिदास की डागुर वाणी विष्णुदास के सरक्षक महाराज डूगरेन्द्रसिंह से सम्बन्धित है। डूगरेन्द्रसिंह के नाम डोंगरसिंह तथा डूगरसिंह भी साहित्य और शिलालेखों में मिलते हैं। सगीत के इतिहासों में हरिदास की डागुर वाणी का रहस्य समझा नहीं जा सका है। यद्यपि उन्हें ध्रुपद* गायकी का पारगत माना जाता है, परन्तु उनकी सगीत-शैली का यह विचित्र नाम डागुर वाणी क्यों पडा, यह समझ में न आने का मुख्य कारण डूगरेन्द्रसिंह और विष्णुदास से अपरिचित होना ही है† । स्वामी हरिदास मधुकरशाह बुन्देले के गुरु थे। इन्हीं का शिष्यत्व मधुकरशाह के गुरु हरिराम व्यास ने स्वीकार किया था और इन्हीं से तानसेन ने सगीत सीखा था।

गोकुल के सगीत और पद-साहित्य का प्रतिनिधित्व आतरी के गोविन्द स्वामी तथा अब तक किसी अज्ञात स्थान के सूरदास करते हैं। वे भी ध्रुपद गायकी को अपनाए हुए थे। उनमे से गोविन्द स्वामी पर तो हम आगे लिखेंगे, पहले सूरदास के सम्बन्ध में विस्तृत सूरदास का सगीत विवेचन कर लें। सूरदास का शरणागति (पुष्टिमार्ग और पद-साहित्य मे दीक्षित होने) का समय सन् १५१० अथवा १५१६ माना जाता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य का वरदहस्त प्राप्त करने के पूर्व भी वे पद रचना तथा सगीत-साधना करते थे। वल्लभाचार्य के सम्पर्क के पश्चात उन्होंने 'सूर है के घिघियायवो' तो छोड दिया,

---

* विष्णु नारायण भातखण्डे हिंदुस्तानी सगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका, चौथी पुस्तक, पृष्ठ ४६।

† यहाँ यह भी स्मरण रखने की बात है कि अहीरों का एक गोत्र 'डागुर' है और पेशवाओं के काल तक जटवारा, भदावर, कछवाहघार, तँवरधार सिकरवारा तथा गूजरधार, अर्थात समस्त ग्वालियर-नरवर क्षेत्र 'अहीरवाडा' कहलाता था। यह भी इस 'डागुर वाणी' का एक रहस्य है।

परन्तु सगीत और पद-साहित्य की इस ग्वालियरी परम्परा को नहीं छोडा। यह सम्भव नहीं था। उसी के कारण वल्लभाचार्य जी ने उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर को अलकृत करने के योग्य समझा था। तात्पर्य यह कि सूरदास को ग्वालियर का सगीत और पद साहित्य का पुष्ट रूप प्राप्त था, उनके सूरसागर में वही निर्मल जल भरा हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि कृष्ण चरित्र के गान में गीतिकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसका अवलम्बन सूरदास ने किया* ।" गोकुल में भी बगाल और मिथिला के कृष्णभक्त विद्यमान थे। श्रीनाथ जी के मन्दिर की सेवापूजा प्रारम्भ में बगालियों के हाथों में वल्लभाचार्य के समय में थी। उनके द्वारा जयदेव और विद्यापति के साहित्य से सूरदास का परिचय भी हो गया होगा, परन्तु यह सत्य नहीं कि सूर का गीतिकाव्य जयदेव और विद्यापति की परम्परा का है। यह परम्परा ग्वालियर की है। जयदेव विद्यापति की राग-रागिनियाँ सूर के समय तक रूप और नाम भी बदल चुकी थी। सूरदास ने जिन राग-रागिनियों के नाम दिये हैं, वे ग्वालियर के मानसिंह की सभा के हैं, न कि जयदेव और विद्यापति के † ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक मध्यदेश की भाषा का रूपनिर्माण सगीत के पदों के माध्यम से हो चुका था। हिन्दी के गेय पदों की परम्परा गोपाल नायक के पहले से प्रारम्भ होकर ग्वालियर में वह पूर्ण विकसित रूप प्राप्त कर सकी। इस सगीत के

---

* रामचन्द्र शुक्ल सूरदास, पृष्ठ १४७।

† इसके लिए जयदेव विद्यापति एव सूरदास के पदो की सगीत की पृष्ठ भूमि का अध्ययन आवश्यक है। मानकुतूहल की राग रागिनियो के आधार पर सूरसागर का अध्ययन सूर और जयदेव के रागो की विभिन्नता स्पष्ट बतलाता है। प्रस्तुत पुस्तक के लिए यह अत्यधिक विषयातिरेक होगा।

माध्यम द्वारा जिस विशाल पद-साहित्य का निर्माण हुआ, उसी का एक अभिन्न अंश सूरदास का सूरसागर है। एक अंश हम इसलिए कहते हैं कि सोलहवीं शताब्दी में ग्वालियर की पदरचना तथा उसके संगीत को लेकर मथुरा-वृन्दावन और मुगल दरबार में जाने वाले अनेक संगीत-पदकारों के विशाल पद-साहित्य का न अभी तक संकलन ही हुआ, न अध्ययन ही। मानसिंह के पूर्व गोपाल नायक से लेकर विष्णुदास तक के पद-साहित्य का अभी संग्रह और अध्ययन नहीं हुआ। उनसे कितने सागर भर सकेंगे, यह अनुमान कर सकना कठिन है। विभिन्न पदकारों की अनुभूति और सामर्थ्य के भेद के कारण उनके काव्य-सौष्ठव में अन्तर हो सकता है, परन्तु भाषा और परम्पराओं में अन्तर नहीं हो सकता। इसी प्रचलित परम्परा में रचना करने के उद्देश्य से गोस्वामी तुलसीदास की गीतावली, विनयपत्रिका और कृष्णगीतावली लिखी गयीं। हिन्दी के पद-साहित्य को इतनी वैभवशाली संगीत और पद-परम्परा ग्वालियर ने दी थी। यह भी एक प्रबल कारण है जिससे मध्यदेश की भाषा का नाम ही ग्वालियरी भाषा हुआ। यह ग्वालियरी भाषा ग्वालियर के संगीत की देन है। इस प्रकार हिन्दी की मध्यकालीन काव्यभाषा का रूप-निर्माण करने का श्रेय है ग्वालियर के ध्रुपद की तान को।

ग्वालियरी भाषा ग्वालियरी संगीत की देन

सूरदास की जन्मभूमि

सूर साहित्य के सगीत और पद-साहित्य के मूल पर विचार करने के पश्चात हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सूर को ग्वालियर का सगीत और उसकी पद-रचना-परम्परा का दाय मिला था अथवा उसी प्रवाह का एक छोर सूरसागर के रूप में भरा दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जब लिखा "सूरसागर किसी चली आती हुई परपरा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा जान पडता है, आगे चलने वाली परपरा का मूल रूप नहीं*" तब वे एक बहुत बडे सत्य को प्रकट कर गये। पिछले परिच्छेद मे हमने पन्द्रहवीं शताब्दी तक की जिस सगीत-साधना एव पद-रचना का उल्लेख किया है, उससे अपरिचित होते हुए भी आचार्य शुक्ल की प्रत्युत्पन्नमति ने उनसे यह कथन कराया था। परन्तु इस गेय पदपरम्परा से परिचय न होने के कारण उन्होंने लिखा "ध्यान देने की बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृ गार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पडती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालो को उलझन में डालने वाली होगी†।"

सूर-साहित्य और ग्वालियर

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालो की उलझन का जहाँ तक प्रश्न है, सो उस पद-परपरा को ब्रजभाषा की रचना मानकर स्वय आचार्य

---

* रामचन्द्र शुक्ल सूरदास पृष्ठ १६८।

† वही।

शुक्ल ने उलझन खड़ी करली है। ब्रजभाषा की यह पहली रचना भले ही हो, परन्तु ग्वालियर की वह अन्तिम रचना नहीं थी। यह भाषा-परंपरा—शिष्ट और स्वीकृत काव्यभाषा, नाम बदल कर भी अपने मूल रूप को ही धारण किये रही। इस बात को आचार्य शुक्ल ने अधूरी जानकारी के आधार पर भी, सही रूप में व्यक्त किया। सूर की भाषा के विषय में वे लिखते हैं "सूर की भाषा बिलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है। 'जाको,' 'तासों' 'वाको' चलती ब्रजभाषा के रूपों के समान ही 'जेहि' 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल में तो अब तक है, पर ब्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है, जैसे 'जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम बान अनियारो'। गोंड, आपन, हमार आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं। कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं, जैसे महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये बातें एक व्यापक काव्यभाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।" यह व्यापक काव्यभाषा गोपाल नायक, बैजू, बख्शू तथा अन्य पचासों ग्वालियर के नायक, विष्णुदास, थेघनाथ आदि बना चुके थे। अयोध्या का मानिक अवध के प्रयोग भी ले आया होगा। जाकों, तासो, वाको ब्रज की बोली के रूप हैं, परन्तु व्यापक रूप में से वे मध्यदेश की भाषा के रूप हैं। केशवदास तो बाद के हैं, इस पुस्तक के अन्त में जो पन्द्रहवीं शताब्दी के ग्वालियर के उद्धरण दिये गये हैं, उनमें ये सब रूप मौजूद हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा उल्लिखित व्यापक काव्यभाषा यही है। यही रूप सूर की भाषा का है।

सूर की भाषा को आचार्य शुक्ल उस ब्रजबोली में बाँधना चाहते थे जिसके विषय में श्री किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है "मैं साहित्यिक ब्रजभाषा की बात लिख रहा हूँ, भौगोलिक ब्रजबोली की नहीं। वह तो संकुचित दायरे में है*।" नाम जो पकड़ा गया वह अज्ञानवश, पर

* किशोरीदास वाजपेयी ब्रजभाषा का व्याकरण, पृष्ठ ८८।

रूप न सूर की भाषा का वह है, न व्रजभाषा के कथित किसी काव्य का। उसका रूप तो वह व्यापक काव्यभाषा का ही है जो ग्वालियर में पन्द्रहवीं शताब्दी में दिल्ली, अवध, मेवाड़ आदि के निकट सम्पर्क से बना। इन दोनों विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त नाम को अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं, केवल उनके द्वारा भाषा के रूप निरूपण को देखना पर्याप्त है। व्रजभाषा के रूप के विषय में श्री अयोध्यसिंह उपाध्याय ने लिखा है "मैंने व्रजभाषा की जो विशेषताएँ पहले बतलाई हैं वे सब उनकी (सूरदास की) भाषा में पाई जाती हैं, वरन् यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा के आधार से ही व्रजभाषा की विशेषताओं की कल्पना हुई है*।" और हम यह ऊपर दिखा चुके हैं कि सूर की भाषा और उनके पद-साहित्य का मूल कहाँ है। सम्भवत. इससे स्पष्ट हो सकेगा कि व्रजभाषा केवल एक नाम है—प्रतीक मात्र, मूल है ग्वालियरी भाषा।

व्रजभाषा और व्रजबोली

हिन्दी साहित्य के इतिहास विवेचक निश्चयात्मक रूप से अभी तक हिन्दी के निर्माताओं के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी एकत्रित नहीं कर सके हैं और जो भी सामग्री उपलब्ध हुई है उसका विवेचन व्यक्तिगत धारणाओं के आधार पर हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास की जन्म-भूमि अभी तक राजापुर, सोरों और अयोध्या के बीच भटक रही है। सूरदास भी इसके अपवाद नहीं। सूरदास की जीवनी का निर्णय बहुधा पुष्टिमार्गी वार्ताओं के आधार पर हुआ है। उन्हीं के आधार पर उनका जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम में बताया जाता है, उन्हें सारस्वत ब्राह्मण और जन्मान्ध लिखा जाता है। परन्तु इन वार्ताओं में से निरपेक्ष

सूरदास की जन्म-भूमि

---

* अयोध्यासिंह उपाध्याय हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ २४८।

शुद्ध इतिहास खोजने का प्रयास हमारे ज्ञानचक्षुओं पर भी पर्दा ही डाले रहेगा। उनका निर्माण सत्य निरूपण करने के लिए नहीं हुआ, उनका मूल उद्देश्य साम्प्रदायिक और राजनीतिक था। इस उद्देश्य के लिए सत्य को विद्रूप करने में वार्ताकार जरा भी नहीं हिचके।

यह छोटी सी पुस्तक सूर की विस्तृत जीवनी निर्णय करने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है, फिर भी हम सूरदास के जन्मस्थान के विषय में संक्षिप्त रूप से कुछ प्रकाश अवश्य डाल देना चाहते हैं, क्योंकि इससे सूर की भाषा के मूल पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है।

सूर की भक्ति का रूप

इस सम्बन्ध में कुछ तिथियाँ स्मरण रखने की आवश्यकता है। सूरदास का जन्म सन् १४७८ (संवत १५३५ वैशाख सुदी ५) में हुआ था, ऐसा पुष्टि सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। गोस्वामी वल्लभाचार्य की शरण में वे लगभग सन् १५१० में गये,* अर्थात वे उस समय लगभग बत्तीस वर्ष के थे। इसके पूर्व वे बहुत पद-साहित्य लिख चुके थे, यह भी निश्चित है। उस पद-साहित्य पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि वे कभी राम के भक्त भी रहे हैं। सूरका एक पद है :—

राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं, रक होई कै रानौ।
सिव, ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु हौं अजान नहिं जानौं।
हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं, सो हमता क्यौं मानौं?
प्रगट खंभ तें दये दिखाई, जद्यपि कुल को दानौ।
रघुकुलराघव कृस्न सदा ही गोकुल कीन्हौ थानौ। आदि।

राम और कृष्ण की यह सम्मिलित भक्ति उस समय ग्वालियर की विशेषता थी। मानसिंह तोमर के भाई या भतीजे भानुसिंह ने थेघनाथ से गीता का अनुवाद कराया। वह थेघनाथ लिखता है —

* प्रभुदयाल मीतल अष्टछाप परिचय, पृष्ठ १२८।

† सूरसागर (का० ना० प्र० स०) पद क्रमांक ११।

कहै भानु मोहि भावै रामै। जाते ज्यो पावै विस्राम।
इहि ससार न कोऊ रह्यो। भानुकुवर येधू सो कह्यो॥

—और फिर गीता का अनुवाद करने का आदेश दिया। यह रामकृष्ण की भक्ति का रूप चतुर्भुजदास की मधुमालती मे भी मिलता है। तात्पर्य यह कि सूरदास के इन पुष्टिपूर्व पदों मे राम और विष्णु के एक विशेष रूप में दर्शन होते हैं।

परन्तु मुख्य बात दूसरी है। सूरदास के पदों का अन्तर्साक्ष्य यह कहता है कि वे पुष्टिमार्गी बनने के पूर्व किसी राजसभा के निकट सम्पर्क में थे। वह राजसभा कुलीन पंडितों से मंडित थी, वहाँ कोई गढ़ भी था, और महाराज, ऋषिराज, राजमुनि आदि की परंपरा भी थी। सूरदास स्वयं ब्राह्मण कुल के नहीं थे, उनके पास उनका संगीत था और थी प्रभुभक्ति। वे उसी के सहारे अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की चुनौती सी देते हैं। ये पूरे पद तो हम अन्त में परिशिष्ट के रूप में दे रहे हैं, यहाँ उनके आवश्यक अंश उद्धृत करते हैं। सूर ने एक स्थल पर लिखा है:—

ग्वालियर और सूरदास

जापर दीनानाथ ढरै*।
सोई कुलीन, बडो सुन्दर सोई, जिहि पर कृपा करै।
कौन विभीसन रक निसाचर, हरि हॅसि छत्र धरै।
राजा कौन वडो रावन तें गर्बहि गर्ब गरै।
.
यह गति मति जानै नहि कोऊ किहि रस रसिक ढरै।
सूरदास भगवत भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै।

प्रश्न यह है कि यह रस-रसिक, रावण से भी अपना वडा प्रताप समझने वाला कौन था और किसे कुलीनता का गर्व था जिसे यह उपदेश देने की आवश्यकता पड़ी? उत्तर की खोज आगे करेंगे, पहले सूर का एक पद और देख लें:—

* सूरसागर (का० ना० प्र० स०), पद क्रमांक ६५।

हरि के जन की अति ठकुराई* ।

महाराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई।

निरभय देह राजगढ़ ताकौ, लोक मनन उत्साहु। आदि।

ये कौन सी राजसभा और राजगढ़ हैं जिनको 'हरि के जन' सूर ने इस पद में चुनौती दी है ? कहाँ पर महाराज, ऋषिराज, राजमुनि आदि का जमघट था, जिनके आगे सूरदास को केवल हरिभक्ति के सहारे अपना अहं जीवित रखने की स्थिति उत्पन्न हुई ?

सूर का एक पद और द्रष्टव्य है—

यह आसा पापनी दहै† ।

तजि सेवा वैकुंठनाथ की, नीच नरनि क सग रहे ।

जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनको राजा राय कहै। आदि।

यह संकेत निश्चय ही वल्लभ-सभा के लिए नहीं है। वे पुष्टिमार्गी वनने के पश्चात के सूरदास के लिए नीचनर नहीं थे, न राजा राय थे। श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा मे जाने के परचात सूरदास को किसी लम्बे समय तक किसी राजा राय के पास रहने का अवसर नहीं मिला, उस समय वे वैकुंठनाथ की नहीं, गोकुलनाथ की सेवा करते थे।

सूर के इन पदों में वर्णित परिस्थितियों का समाधान ग्वालियर के तोमर महाराज मानसिंह की सभा में मिलता है।

मान की राज-सभा

ग्वालियर गढ़ पर परम-रसिक-शिरोमणि मानसिंह की राजसभा जमती थी। मृगनयनी के रूपलावण्य के साथ-साथ उसे अपने दुर्दमनीय शौर्य का भी दंभ था। दिल्ली-संस्थापक अपने पूर्वजों का भी उसे गर्व था।

थेघनाथ उसके लिए लिखता है :—

पन्द्रह सै सत्तावन भानु। गढ़ गोपाचल उत्तम ठानु ॥

मानसाहि तिह दुर्ग नरिन्दु। जनु अमरावति सोहै इन्दु ॥

---

* सूरसागर (का० ना० प्र० स०) पद क्रमांक ४०।

† वही, पद क्रमाक ५२।

नीत पुत्र सौं गुन आगरो। वसुधा राखन कौं अवतरो ॥
जाहि होइ सारदा बुद्धि। कै ब्रह्मा जाकै हिय सुद्धि ॥
जीभ अनक सेस ज्यो करै। सो श्रुत मानस्यघ की करै ॥
तावँ राज धर्म की जीत। चले लोक कुल मारग नीति ॥
सबही राजनि में अति भलै। तोवर सत्य सीन त्या बनै ॥

उसी दरबार में अवध के मानिक ने भी उसकी अभ्यर्थना की —

गढ ग्वालियर थानु अति भलै। मानसिंह तोवरु जो बलै ॥

इन गढपति तोमर की राजसभा में कुल और पाडित्य में मानी केशव के पूर्वज 'षट दर्शन अवतार' शिरोमणि मिश्र थे और मथुरा के प्रकाण्ड पडित कल्याणकर मिश्र भी थे। मानसिंह के पिता कल्याणसिंह राजर्षि* भी कहला चुके थे। इस पृष्ठभूमि में सूरदास के ऊपर लिखे पदों को रख कर यदि देखा जाय, तब उनके रस-रसिक, महाराज, ऋषिराज, कुलीनता के दभी, राजगढ के अधिपति सभी एकत्रित दिखाई देंगे। सूरदास की जन्म भूमि दिल्ली के पास सीही मान कर तथा वयस्क होते ही उन्हें मथुरा आगरा के बीच किसी काल्पनिक गोपाचल† का निवासी मानकर चलें, तब ये पद अर्थहीन दिखाई देंगे।

इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि ईसवी सन् १४७८ (सूर का जन्मवर्ष) तथा ईसवी सन् १५१० (शरणागति वर्ष) के बीच सूरदास की सगीत-साधना कहाँ हो सकी होगी? सूर का सगीत गभीर शास्त्रीय अध्ययन पर आधारित है। राणा कुम्भा की सगीतसभा उस समय तक उखड चुकी थी। दिल्ली, जौनपुर अथवा माडू के सुल्तानों के सगीत से सूरदास के सगीत का कोई सम्बन्ध नहीं है और उनके द्वारा इन दरबारों से सम्बन्धित होकर सगीतसाधना करना कल्पनातीत है।

सगीतसाधना की साक्षी

---

* 'कल्याणमल्ल इति भूपमुनियशस्वी तथा श्रीमल्लाडखान विनोदाय श्रीमद्राजर्षि-महाकवि-कल्याणमल्ल विरचितो अनगरग'—अनगरग।

† मुशीराम शर्मा सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृष्ठ १८-१९।

वृन्दावन के गौड़ीय वैष्णवों से सूरदास का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। स्वामी हरिदास उस समय तक वहाँ स्वय सगीत की साधना कर रहे थे, उनकी डागुर वाणी उस समय तक मुखरित नहीं हुई थी। दिल्ली के पास अथवा मथुरा-आगरा के बीच के क्षेत्र में उस समय सिकन्दर लोदी की फौजें दौड मार रही थीं। उस इलाके मे न कोई गढ़पति था, न महाराज, राजर्षि अथवा राजमुनि का दभ कर सकने वाला। तब सूर की सगीत साधना पन्द्रहवीं शताब्दी में केवल ग्वालियर में हो सकती थी।

मानसिंह की सहिष्णुता

जहाँ तक सूर के इन राजसभा विषयक पदों का सम्बन्ध है, वे लोदियों को सहन नहीं हो सकते थे। हाँ, मानसिंह तोमर उन्हें अवश्य सह सकता था। वह विद्वानों और सन्तों के अमर्ष को हँस कर सह लेता था। इसका एक उदाहरण केशव के पूर्वज ही हैं। शिरोमणि और हरिनाथ मिश्र के विषय मे केशवदास ने लिखा है --

> भये शिरोमणि मिश्र तब, षट दर्शन अवतार॥*
> मानसिंह सों रोष करि जिन जीती दिसि चारि।
> ग्राम बीस तिनको दये राना पाव पखारि॥
> तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग कीन्हे हरि हरिनाथ।
> तोमरपति तजि और सों कबहु न ओड़्यो हाथ॥

शिरोमणि मिश्र मानसिंह से झगड बैठे, चले भी गये, परन्तु मानसिंह ने उनसे कोई बदला न लिया। उसके पुत्र हरिनाथ को तोमर राज म इतनी वृत्ति मिलती रही कि उन्हें कहीं और हाथ न फैलाना पडा। जब केशव ने वीरसिंह बुन्देला से रोष किया था अथवा जब उन पर वीरसिंहदेव बुन्देला ने कुछ समय के लिए रोष किया था, तब फल कुछ दूसरे प्रकार का ही हुआ था। केशव की वृत्ति भी गयी और ओडछा भी छूटा। बहुत अनुनयविनय के पश्चात ही प्रतिष्ठा मिल सकी

* केशवदास कविप्रिया, दूसरा प्रभाव।

थी। मानसिंह तोमर का व्यवहार इस दिशा मे अधिक उदार था। शिरोमणि मिश्र मानसिंह के मृगया, मृगनयनी और संगीतरस मे लीन रहने के कारण किंवा किसी अन्य माथुर पंडित के प्रभावशील हो जाने से रूठ गये थे ऐसा ज्ञात होता है। उस स्थिति मे उनकी उपेक्षा होती रही होगी। परन्तु मानसिंह रुष्ट न हुआ। यह शिरोमणि के भी पीछे नहीं पड़ा, क्योंकि जिस राणा ने उनके पाँव पखार कर बीस ग्राम दिये, वह भी या तो मानसिंह के बाहुबल पर जीवित रहने वाला धौलपुर का राणा होगा, या तोमरों के हितैषी उदयपुर के राणा होंगे। तात्पर्य यह कि सूरदास की इन कटूक्तियों का केन्द्र यही मानसिंह और उसकी राजसभा थी। मानसिंह बहुत समय तक इस गुणी भक्त का यह उद्धत रूप सहते रहे, परन्तु संभवत. सूरदास अधिक समय तक ग्वालियर में टिक न सके और सन् १५१० के पूर्व ही ग्वालियर छोड़ गये। गोकुल, मथुरा और वृन्दावन उस काल के उदासीन भक्तों के लिए तीर्थ स्थान तो थे ही, अतएव वे वहाँ जा बसे और श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रधान शिष्य बने।

नाभादास ने भक्तमाल मे सूरदास के पद-साहित्य की प्रशंसा की है, उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। परन्तु भक्तमाल पर अनेक विस्तृत टीकाएँ हुई हैं। उन सबके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है, विशेषतः उन टीकाकारों की कृतियों देखने योग्य हैं जो पुष्टि मार्ग से प्रभावित नहीं थे। उनमें से एक टीकाकार* ने सूरदास को किसी यादव वंशी का परम मित्र लिखा है। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि तोमर राजवंश यादववंशी† था। इस उल्लेख से भी यही प्रकट होता है कि

भक्तविनोद की साक्षी

* डा० ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा 'सूरदास' में उद्धृत 'भक्तविनोद'।

† टाड : एनाल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान, पृष्ठ ९३। केशवदास ने भी दिल्ली के तोमरों को 'सोमवंश यदुकुल कलश' लिखा है।

सूरदास का तोमरों से सम्बन्ध था।

सूरदास की एक रचना साहित्यलहरी कही जाती है। उसमें एक पद है:—

साहित्यलहरी का साक्ष्य

प्रथम ही प्रभु यज्ञतें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दयो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायन सुरन कै सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु बंस प्रसंस में भौ चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हो तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचन्द ता सुत सीलचन्द स्वरूप।
वीरचन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रथंभौर हमीर भूपत संग खेलत जाय।
तासु बंस अनूप भो हरिचन्द अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट गम्भीर॥
कृष्णचन्द उदारचन्द जो रूपचन्द सुभाइ।
बुद्धिचन्द प्रकाश चौथे चन्द भे सुखदाइ॥
देवचन्द प्रबोध षष्टमचन्द्र ताको नाम।
भयो सप्तम नाम सूरजचन्द मन्द निकाम॥
सो समर कर साहि से सब गये विधि के लोक।
रह्यो सूरज चन्द दृग से हीन भर वर शोक॥
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार।
सातवें दिन आई यदुपति कियो आप उधार॥
दिव्य चख दे कही शिशु सुन माँग वर जो चाइ।
है कही प्रभु भगति चाहत शत्रुनाश स्वभाइ॥

दूसरो ना रूप देखे देख राधा श्याम ।
सुनत करुणासिन्धु भाषी एवमस्तु सुधाम ॥
प्रबल दच्छिन विप्रकुल ते शत्रु ह्वै है नास ।
अपिल बुद्धि विचार विद्यामान मानें मास ॥
नाम राखें है सु सूरजदास, सूर सुश्याम ।
भये अन्तरधान बीते पाछली निशि याम ॥
मोहि मनसा इहै ब्रज की बसी सुख चित थाप ।
श्री गुसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप ॥
विप्र प्रथ ते जगा को है भाव सूर निकाम ।
सूर है नन्द नन्द जू को लियो मोल गुलाम ॥

इस पद से यह स्पष्ट है कि सूरदास चन्दवरदाई के वंशक्रम में थे तथा वे ब्रह्मभट्ट थे। इस पद के अनुसार सूरदास के प्रपिता का नाम हरचन्द है। इन हरचन्द के पुत्र पहले आगरा में रहे और फिर गोपाचल चले गये। उनके सात पुत्र हुए, जिनमें से छह शाह से युद्ध करके स्वर्ग चले गये और अकेले सूरदास बच रहे। इस पद की साक्षी से सूरदास का जन्म ग्वालियर में हुआ था। सूरदास के जन्म के समय अर्थात ई० सन १४७७ में उस समय ग्वालियर पर कीर्त्तिसिंह तोमर का राज्य था। जिस शाह से युद्ध करते हुए सूरदास के छह बड़े भाई मरे, वह युद्ध सूरदास के जन्म के १७-१८ वर्ष पश्चात हुआ होगा अर्थात उस समय हुआ होगा जबकि मानसिंह तोमर के राज्य का प्रारम्भ हो गया था। मानसिंह तोमर को अनेक शाहों से भीषण युद्ध करना पड़े थे।

साहित्यलहरी का पद क्या वास्तव में प्रक्षिप्त है?

अनेक विद्वानों ने 'साहित्यलहरी' का उपर उद्धृत पद प्रक्षिप्त माना है और उसका प्रधान कारण यह बतलाया है कि सूरदास की जाति उसमें ब्रह्मभट्ट लिखी है, जब कि हरिरायजी ने उन्हें अपनी वार्त्ता में सारस्वत ब्राह्मण कहा है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ०, ब्रजेश्वर वर्मा एवं डॉ० दीनदयाल गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त माना

हैं। दूसरी ओर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू राधाकृष्णदास तथा मुंशीराम आदि विद्वानों ने इसे सूररचित एवं प्रामाणिक माना है। यहाँ पर हम इस पद की प्रामाणिकता के विवाद में नहीं पड़ना चाहते, हम तो केवल यह कह सकते हैं कि इस बात को सिद्ध करने के लिए कि सूरदास ग्वालियर के थे, बहुत सी सामग्री है जो इस पद के उल्लेख को इतिहाससंमत प्रकट करती है। कुछ स्थापनाओं को स्वयं-सिद्ध मानकर उनकी कसौटी पर इस पद को अथवा समस्त साहित्य-लहरी को प्रक्षिप्त मान लेने के जो प्रयास किये गये हैं, वे वैज्ञानिक नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है*— "हमारा अनुमान है कि साहित्यलहरी' में यह पद किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है। यह पंक्ति ही,

प्रबल दच्छिन विप्र कुल तें सत्रु ह्वै है नास।

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्र कुल' साफ़ पेशवाओं की ओर संकेत करता है। इसे खींचकर अध्यात्मपक्ष की ओर मोडने का प्रयत्न व्यर्थ है।" ऊपर हम पूरा पद उद्धृत कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल को इतना बड़ा भ्रम कैसे हो गया, यह बड़े आश्चर्य की बात है। उन्हें कठिनाई ज्ञात हो रही थी सूरदास के, इस पद के आधार पर सारस्वत ब्राह्मण से ब्रह्म-भट्ट बन जाने में, परन्तु वह खीज उतरी 'दच्छिन विप्र कुल' पर।

प्रबल दच्छिन विप्रकुल

यहाँ दक्षिण के प्रबल विप्र कुल से पेशवाओं की ओर संकेत कदापि नहीं है, वह है गोदावरीतट से पधारने वाले वल्लभाचार्य की ओर। शत्रु भी मुगल नहीं हैं, शत्रु हैं वे मानसिक विकार जो महाप्रभु के स्पर्श मात्र से नष्ट हो गये थे और जिनके लिए यह वरदान माँगा गया है "है कही प्रभु भगति चाहत शत्रु नास सुभाइ"। कृष्ण भगवान ने 'एवमस्तु' कहा और वरदान दिया "प्रबल दच्छिन विप्र कुल ते शत्रु ह्वै है नास"।

---

* रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८१।

† मुंशीराम शर्मा : सूर-सौरभ, पृष्ठ १८-१६।

इस घटना के पश्चात ही सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य बने, यह इस पद में है। यहाँ पेशवाओं को स्थान नहीं है। इसी प्रकार की पूर्व निश्चित धारणाएँ इस पद को प्रक्षिप्त बनाती रही हैं। यहाँ हमने केवल एक बानगी दे दी है।

सूर-साहित्य के महामर्मज्ञ श्री मुंशीराम ने इस पद को तो सूरकृत माना है, परन्तु इसमें "गोपाचल" का जो उल्लेख आया है, उसे चौरासी वैष्णवन की वार्ता के गऊघाट से अभिन्न माना है। मत-लब यह कि पहले तो वार्ता को ब्रह्मवाक्य माना जाय, तब गोपाचल की खोज की जाय ! इस प्रकार की भावना से इतिहास तो नहीं मिल सकता। इतिहास-विश्रुत गोपाचल तो दूसरा ही है। गऊघाट और गोपाचल का नामसाम्य भी नहीं है, फिर गऊघाट कैसे गोपाचल हो गया ? ब्रज के चौरासी कोस के बाहर भी एक दुनियाँ है, परन्तु उसे देखे कौन ?

और यह नया गोपाचल ?

साहित्यलहरी के इस पद में सूरदास के पिता का नाम नहीं दिया गया है। कुछ विद्वान सूरदास के पिता का नाम रामदास बतलाते हैं और उसकी अभिन्नता उस रामदास गवैये से प्रकट करते हैं, जिसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी में है तथा जिसके साथ उसके पुत्र सूरदास का भी मुगल दरबार में जाने का उल्लेख किया गया है। मुगल दरबार के ये रामदास और सूरदास ग्वालियर के हो सकते हैं, परन्तु सूरसागर के रचयिता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

आइन-ए-अकबरी के रामदास और सूरदास

तोमरों के समय में एक अत्यन्त प्रसिद्ध रामदास थे अवश्य, जो गीता-अनुवादक थेघनाथ के गुरु थे, जिनकी वंदना थेघनाथ ने अपने गीता के अनुवाद में की है.—

थेघनाथ के गुरु रामदास

सारद कहौं बदौं करि जोर। पुनि सिमरों तैंतीस करोर॥
रामदास गुरु ध्याऊँ पाइ। जा प्रसाद यह कवितु सिराइ॥

हमारे पास यह प्रकट करने का कोई प्रमाण नहीं है कि ये रामदास

सूरदास के पिता भी थे। परन्तु यह निश्चित है कि ई० सन् १५०० में जब मेघनाथ ने यह अनुवाद किया, ये रामदास ग्वालियर में बहुत प्रतिष्ठित एवं मान्य थे। वे संत भी थे और संगीतज्ञ भी। वृन्दावन के हरिदास किसी रामदास के शिष्य कहे जाते हैं। सम्भव है वे यही रामदास हों।

सूर-साहित्य के अन्तर्साक्ष्य से यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सूरदास ब्राह्मण नहीं थे, अन्यथा वे यह न लिखते:—

जन की और कौन पति राखै
जाति-पाँति कुल कानि न मानत वेद पुराननि साखै*।

इस काल में किसी वैष्णव ब्राह्मण ने इस प्रकार नहीं लिखा। जो ब्राह्मण जैन अथवा नाथपंथी हो गये थे, उनके द्वारा ऐसे कथन अवश्य हुए हैं। पर सूर दोनों ही नहीं थे। लेकिन हम देखते हैं कि श्री हरिराय जी ने अपनी वार्त्ता में यह स्पष्ट लिख दिया है:—

"सो सूरदास जी दिल्ली पाए चार कोस उरे में सीहीं गांम है, जहां राजा परीक्षत के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है, सो ता गांम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहां प्रगटे। सो सूरदास जी के जन्मत ही सों नेत्र नाहीं हैं, और नेत्रन को आकार गढेला कछू नाहीं, ऊपर भौंह मात्र है। सो या भाँति सों सूरदास जी को स्वरूप है।"

हरिराय जी के इस कथन में न तो यह सत्य है कि सूरदास जन्मान्ध थे और न यह कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका यह कथन भी प्रमाण-रूप मान लेने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता कि सूरदास का जन्म दिल्ली के पास सीहीं ग्राम में हुआ था। हम यहाँ वार्त्ता-साहित्य के समस्त कथनों की प्रामाणिकता के विचार में नहीं पड़ना चाहते, केवल यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वार्त्ताकारों की दृष्टि अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की ओर अधिक रही है और इस हेतु

* सूरसागर : (ना० प्र० स०) पद क्रमांक १५।

उनके द्वारा अनेक अनर्गल कथन भी किये गये हैं। तुलसीदास के विषय में जहाँ-जहाँ वार्त्ताओं में उल्लेख किया गया है, वह कितना भ्रामक है, इसके लिए हम श्री चन्द्रबली पाडे के उस विवेचन की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे जो उनके द्वारा "तुलसी की जीवनभूमि" में किया गया है और जिसमें श्री पाडेजी ने लिखा है* "जी, इसी तुलसी को नीचा दिखाने के लिए वार्त्ता खड़ी हुई है। उसके नन्ददास का य के नन्ददास नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि 'वार्त्ता' को न तो तुलसी की मान मर्यादा का ध्यान है और न 'नन्ददास' की प्रतिष्ठा की चिन्ता। उसे तो ले दे के बस 'पुष्टि' को पुष्ट करना और 'श्री गुसाईं जी' को आसमान पर चढाना है।"

वार्त्ता का साम्प्रदायिक ध्येय

सूरदास की जन्मभूमि सीही में बतलाने में अथवा उन्हें सारस्वत ब्राह्मण या जन्मान्ध बतलाने में हरिरायजी का साम्प्रदायिक उद्देश्य बहुत अधिक तो नहीं था, परन्तु था अवश्य। समस्त वार्त्ता साहित्य में ग्वालियर का नाम विशेष रूप से परित्यक्त समझा गया है, यद्यपि श्रीनाथजी के श्री चरणों का ग्वालियर का संगीत और पद साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ शृगार और आकर्षण का कारण बना था तथा आधे दर्जन से अधिक उस काल के सर्वश्रेष्ठ कृष्णलीला-गायक ग्वालियर के आसपास के ही थे और स्वयं महाप्रभु इडोतियाधार में पधार कर रामसिंह तोमर से मिले थे, परन्तु उसे महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित आडम्बर पूर्ण भक्ति के लिए अवकाश नहीं था। ग्वालियर के विषय में धारण किये गये इस मौन का यह भी एक प्रबल कारण था। जिन मुगलों की छत्रछाया में पुष्टि मार्ग पला था, उस मुगल साम्राज्य के भारत के संस्थापक बाबर के विरुद्ध विक्रमादित्य तोमर पानीपत में लड़ा था और हुमायूँ ने उसके परिवार की रत्नराशि छीनकर प्रसिद्ध कोहनूर हीरा

---

* चन्द्रबली पाडे तुलसी की जीवनभूमि पृष्ठ ५०।

प्राप्त किया था तथा उसका पुत्र रामसिंह तोमर पहले तो मुगलों से ग्वालियर छीनने का प्रयास करता रहा और विफल प्रयास होने पर मेवाड के राणा उदयसिंह की सेवा में चला गया तथा उन्हें तुर्कों से लडने के लिए भडकाता रहा और अन्त में सन् १५७६ ई० में महाराणा प्रतापसिंह की ओर से मुगलों से लडता हुआ अपने दो पुत्र भवानीसिंह और प्रतापसिंह के साथ हल्दीघाटी के रणस्थल में खेत रहा*। एक और कारण जिससे पुष्टिमार्गी महाप्रभु ग्वालियर के तोमरों से रुष्ट थे, वह था नरवर के कछवाहों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध और कछवाहों और तोमरों का वशानुगत वैमनस्य। हम यहाँ इस इतिहास को विस्तार से नहीं लिखना चाहते, केवल यही सकेत कर देना चाहते हैं कि सन् १५०८ में तोमरों के विरुद्ध सिकन्दर लोदी को नरवर पर कछवाहों ने ही निमत्रित किया था। भयकर युद्ध के पश्चात नरवरगढ टूटा, लोदियों ने वहाँ के मन्दिर ध्वस्त किये तथा विजन बोल दिया। इसके बाद नरवर और सीपरी (शिवपुरी) पर कछवाहे जम गये। जब लुटे पिटे तोमर मुगलों से लडाई लड रहे थे, तब नरवर और राजस्थान के कछवाहे मुगलों से किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे यह भी इतिहास प्रसिद्ध है। मुगलों के जागीर भोगी ये पुष्टिमार्गी सत उस अपराध को भूल न सके, तथा सूरदास का जन्मस्थान सही रूप में दक्षिण दिशा में लिखने के स्थान पर उत्तर की ओर ले गये। सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखने में भी इसी प्रकार की वृत्ति कार्य कर रही थी। श्री वल्लभाचार्य के श्रेष्ठतम अनुयायी को श्री हरिरायजी महाराज घटिया जाति का लिखने में सकोच करते थे, अतएव वे ब्रह्मभट्ट से सारस्वत ब्राह्मण बना दिये गये। सूरदास को जन्मान्ध न लिखने में भी श्री हरिरायजी ने गोस्वामी वल्लभाचार्य की महिमा घटती देखी। उनके मत से यह महाप्रभु का प्रसाद था कि जन्मान्ध सूरदास भी रूप, रग और प्रकृति छटा का इतना विशद वर्णन

---

* गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ २६७।

कर सके, जितना कोई दृष्टि रखने वाला भी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि सूरदास की जीवन सम्बन्धी वार्त्ता के ये उल्लेख निरपेक्ष भाव से नहीं किये गये हैं।

सूरदास के पार्थिव शरीर का सम्बन्ध ग्वालियर से था, यह तो प्रकट होता ही है, पिछले विवेचन के आधार पर हम एक बात निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि सूर के संगीत का मूल ग्वालियर में था, उन्हें मानसिंह के संरक्षण में पोषित पद-साहित्य की विशाल पृष्ठभूमि प्राप्त थी और उसी का एक रूप उनका पद साहित्य है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व सूर की भक्ति का रूप भी वही है, जो विष्णुदास, बैजू, बैघनाथ, नाभादास, चतुर्भुजदास आदि की रचनाओं में मिलता है। सूर की भाषा भी वही ग्वालियरी है जो आगे चलकर व्रजभाषा की छाप लेकर चली अथवा राजनीति और साम्प्रदायिक खींचतान में, श्री चन्द्रवली पांडे के शब्दों में "ग्वालियरी हारी और व्रजभाषा जीती*" अर्थात ग्वालियरी भाषा नाम भुला दिया गया, व्रजभाषा नाम चलाया गया। इस दृष्टि से देखने से जैसा आचार्य शुक्ल ने लिखा है, सूर-साहित्य किसी भी धारा की सब से प्रथम कृति नहीं है, न उसके रूप को देखकर किसी उलझन की आवश्यकता है। उलझन तभी उत्पन्न होती है जब व्रजभाषा को मूल मानकर बुन्देलखंड की भाषा को उसकी उपबोली बनाया जाता है तथा व्रजभाषा का निरूपण करने वाले ग्रन्थों में से इस प्रदेश को बहिष्कृत किया जाता है†।

सूर के संगीत, साहित्य और भाषा का मूल

---

* चन्द्रबली पांडे केशवदास पृष्ठ २६२।

† डॉ० धीरेन्द्र वर्मा व्रजभाषा, मानचित्र।

वल्लभकुल और बुन्देलखंड

सूरदास के संगीत और साहित्य की पृष्ठभूमि पर हमने विचार कर लिया और उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी हमने अपने विचार प्रस्तुत कर दिये। सोलहवीं शताब्दी के इस महाकवि की पद-रचना और भाषा परम्परा के मूल पर उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पुष्टिमार्गी साहित्य के प्रधान स्तंभ सूरदास ही हैं। उनके पश्चात पुष्टिमार्ग का जो कुछ साहित्य बचता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु संगीत में सूरदास से भी अधिक कौशल प्राप्त कुछ व्यक्ति वल्लभ-सभा में थे। आज बुन्देलखंड कहलाने वाले भूभाग ने (जिसमें ग्वालियर भी सम्मिलित है) सूरदास के अतिरिक्त कुछ ऐसे पद-रचनाकार एवं संगीतकार पुष्टिमार्ग को दिये थे जिनके कारण उनके सम्प्रदाय का आकर्षण बहुत अधिक बढ़ गया था।

अन्य पुष्टिमार्गी गायक

सूर के पश्चात अष्टछाप में संगीत की निपुणता में जिनका स्थान था, वे आंतरी के गोविन्दस्वामी हैं। वैसे तो इतिहास प्रसिद्ध आंतरी ग्वालियर के पास है, परन्तु कुछ विद्वानों ने कोई एक आंतरी भी अन्यत्र खोज निकाली है। सूरदास, अष्टछाप एवं ब्रजभाषा पर अनेक ग्रन्थ लिखने वाले श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस सम्बन्ध में लिखा है* "वार्त्ता से ज्ञात होता है कि गोविन्द स्वामी की लड़की उनसे मिलकर अकेली आंतरी ग्राम को वापिस चली गयी थी। इससे यह ग्राम ब्रज के निकट ही होना चाहिए, सुदूर दक्षिण और ग्वालियर रियासत में इसका स्थित होना सम्भव नहीं है। फिर गोविन्द स्वामी के काव्य में शुद्ध ब्रजभाषा के अतिरिक्त दक्षिणी

गोविन्द स्वामी

---

* प्रभुदयाल मीतल अष्टछाप परिचय, पृष्ठ २४१।

अथवा अन्य किसी स्थान की भाषा के शब्द भी नहीं मिलते हैं, अत इनके जन्म और प्रारंभिक जीवन का सम्बन्ध ब्रज के निकटवर्ती भरतपुर राज्यातर्गत आतरी ग्राम से होना ही सिद्ध होता है।" इस शुद्ध ब्रजभाषा' की बात तो बहुत हो चुकी, यहाँ हम उस प्रसग पर विचार करलें, जिसमें उक्त विद्वान लेखक के मतानुसार गोविन्द स्वामी की लडकी को ब्रज से आतरी तक का मार्ग अकेले तय करना पडा। सम्बन्धित वार्त्ता को हमने भी देखा और उसमें कहीं भी हमें यह ध्वनि निकलती दिखाई नहीं दी कि आतरी से उनकी लडकी श्रीनाथ जी के मदिर तक अकेली आई अथवा अकेली लौट कर गयी। वार्त्ता में केवल यह लिखा है "एक दिन गोविन्ददास की बेटी देस मे सो आई परतु गोविन्द स्वामी कोई दिन या बेटी सू बोले नहीं" तथा "तब वे सब कपडा पाछे पठाय दिये बेटी अपने घरकों गई सो वे गोविन्द स्वामी गुरू की कृश सों ऐसे डरपत हते*।" इससे न तो यह ज्ञात होता है कि यह लडकी पैदल आई या गाडी पर बैठकर आई या अकेली आई या तीर्थयात्रियों की जमात के साथ आई और गयी। यह कल्पना तो ब्रज के आसपास ही सब कुछ एकत्रित कर देने के प्रयास की ओर ही इ गित करती है, न कि सत्यान्वेषण की ओर। जब इतना बडा गोपाचल आगरा मथुरा के बीच पैदा हो गया, तब इस आतरी को भरतपुर के पास तक भी क्यों जाने दिया, यही आश्चर्य है— कुछ न कुछ मथुरा-गोकुल के आसपास खोजने से मिल ही सकता था। परन्तु यदि सत्य का पता लगाना हो तब एक बार इस ग्वालियर के पास की आतरी के ध्वसावशेष भी देख लीजिए, मुगल इतिहास में उसकी चर्चा पढ लीजिए और किसी जानकार से उसकी साहित्यिक परपरा जान लीजिए और तब अनुमान लगा लीजिए कि हिन्दी भाषा और

---

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (गगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई का सस्करण) पृष्ठ ६।

साहित्य के इतिहासों के लेखक अपनी व्यक्तिगत धारणाओं के आधार पर क्या-क्या नवीन उद्भावनाएँ खड़ी करने में समर्थ हुए हैं !

इसी वार्त्ता में गोविन्द स्वामी के संगीत के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है जो उन्हें ग्वालियर से सम्बद्ध कर देता है। जब तानसेन गुसाईं जी के पास आए, उस समय उनका गायन भी हुआ। श्री गुसाईं जी ने तानसेन के गान को सुनकर उन्हें दस हजार रुपये और एक कौड़ी इनाम में दी। दस हजार रुपये इस कारण दिये गये कि वे पृथ्वीपति मुगल सम्राट की राजसभा के प्रधान गायक थे और एक कौड़ी इसलिए कि उनके गायन की कीमत श्री गुसाईं जी महाराज की दृष्टि में एक कौड़ी ही थी। तानसेन के गान को मात देने के लिए श्री गुसाईं जी ने इन्हीं गोविन्द स्वामी को बुलाया था। इस प्रसंग के सम्बन्ध में वार्ता में लिखा है "तब गोविन्द स्वामी ने एक सारंग राग में गायो सो पद 'श्री वल्लभ नदन रूप अनूप स्वरूप कह्यो नहिं जाई।' सो ये पद सुनकर तानसेन चकित होय गये और गोविन्द स्वामी को गान सुनके विचार कर्यो जो मेरो गान इनके आगे ऐसे हैं जैसे मखमल के आगे टाट हैं ऐसे हैं सो ये कौड़ी की इनाम खरी। तब गोविन्द स्वामी सूं तानसेन ने कही जो बाबा साहेब मो कुं गान सिखावो तब गोविन्द स्वामी ने कही हम तो अन्य मार्गीय सुं भाषण हुं नहीं करें तब तानसेन श्री गुसाईं जी के सेवक भये और पचीस हजार रुपैया भेट करे और गोविन्द स्वामी के पास गायन विद्या सीखे और श्रीनाथ जी के पास कीर्तन गायवे लगे"।* इससे एक बात तो यह प्रकट है कि तानसेन को पुष्टिमार्ग की धर्म-भावना ने आकर्षित नहीं किया था, वरन उन्हें संगीत-साधना की उत्कट इच्छा ने आकर्षित किया था और दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि गोविन्द स्वामी संगीत शास्त्र

तानसेन और गोविन्द स्वामी

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ ४७६।

के बहुत बड़े मर्मज्ञ थे। यह संगीत ग्वालियर से दक्षिण की ओर १४-१५ मील पर स्थित आंतरी में ही प्राप्त किया जा सकता था, व्रज के पास की किसी आंतरी में नहीं। इसके लिए श्री मीतल के दो कथन ही यदि साथ-साथ रखकर पढ़ लिये जावें तब कोई शंका या सन्देह नहीं रह जायगा। "अष्टछाप के समय में प्राचीन भारतीय संगीत के विकसित रूप ध्रुपद शैली की गायन-पद्धति का विशेष प्रचार था*।" तथा "ग्वालियर के तोमर नरेश स्वयं संगीत शास्त्र के उन्नायक और ज्ञाता थे। उन्होंने ध्रुपद की प्राचीन गायन-पद्धति के प्रचार की बड़ी चेष्टा की थी†।" ध्रुपद और तोमरों का क्या सम्बन्ध है यह हम पहले लिख चुके हैं, उन्होंने ध्रुपद गायकी का प्रचार ही नहीं, प्रारंभ भी किया था। यहाँ यह जान लेना पर्याप्त है कि वल्लभसभा में इसी ध्रुपद गायकी का राज्य था जो खालिस ग्वालियर की देन है और भावभट्ट के शब्दों में मध्यदेशीय भाषा और साहित्य में राजित है‡।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, गोविन्द स्वामी की भाषा मे दक्षिण का प्रभाव तो नहीं हो सकता, लेकिन वह ग्वालियर की भाषा नहीं है यह नहीं कहा जा सकता और श्री मीतल ने कृपा कर यह स्पष्ट रूप से कहा भी नहीं है। अतएव यह मान लेने मे कि गोविन्द स्वामी ग्वालियर का संगीत और उसके पद-साहित्य की परंपरा लेकर ही गोकुल पहुँचे थे, हम सत्य के निकट ही पहुँचेंगे।

गोविन्द स्वामी की भाषा

मध्यकाल में किसी भी कला का रहस्य जान लेना सरल नहीं था। मुमुक्षु शिक्षार्थी को उसे प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ दे देना पड़ता था। तानसेन ने गोविन्द स्वामी से ग्वालियरी संगीत प्राप्त करने

---

* प्रभुदयाल मीतल : अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ३५६।

† वही, पृष्ठ ३५७।

‡ पीछे पृष्ठ ७७ देखिए।

के लिए वल्लभमत ग्रहण किया था, यह ऊपर के प्रसंग से स्पष्ट है। इस ग्वालियरी संगीत ने वल्लभसभा को एक और शक्तिशाली अनुयायी दिया था, यह नरवर के कछवाहा आसकरण की वार्त्ता से प्रकट होता है। वार्त्ता में लिखा है कि एक बार तानसेन आसकरण के पास नरवर गये और उन्हें वह विष्णुपद सुनाया जो उन्होंने गोविन्द स्वामी से सीखा था। आसकरण उससे बहुत मुग्ध हुए और उन पदों को सीखना चाहा, परन्तु तानसेन ने मना कर दिया और कहा कि जब तक श्री गुसाईं जी की शरण में कोई नहीं पहुँचता, तब तक उसे यह संगीत नहीं सिखाया जा सकता। आसकरण को भी तब यह कहना पड़ा कि "मैं हूँ श्री गुसाईं को सेवक होउंगो*।" तात्पर्य यह कि ग्वालियरी संगीत के अनेक रस-भ्रमर उसके आकर्षण के कारण ही वल्लभ-सभा में शरणागत हुए थे। नरवर के आसकरण कछवाहे ने भी अनेक पदों की रचना की है। उनमें ग्वालियर-नरवर की भाषा ही बोली है। उनका एक पद है :—

आसकरन, कछवाहा

> मोहन देखि सिराने नैना।
> *रजनीमुख आवत गायन सग मधुर बजावत बैना ॥*
> ग्वाल मंडली मध्य विराजत सुन्दरता को ऐना।
> आसकरण प्रभु मोहन नागर वारौं कोटिक मैना ॥

हम नहीं समझ सकते, इस पद में ऐसा कौनसा प्रयोग है जो सोलहवीं शताब्दी की बात छोड़ दीजिए, आज बीसवीं शताब्दी में भी बुन्देलखण्ड, नरवर, दिनारा, करहरा, ग्वालियर, चिरगॉव, दतिया, ओड़छा में प्रचलित भाषा में प्रयुक्त नहीं होता। जिन्हें शंका हो वे कार्तिक स्नान के दिनों में किसी बुन्देलखण्डी ग्राम में तालाब, नदी या पनघट के किनारे उषःकाल की पावन वेला में बुन्देल-ललनाओं की मधुर स्वरलहरी में आज भी सुन सकेंगे :—

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, पृष्ठ १६३।

चन्दन चढ़ायौ कहूँ देवपद वन्दन को,
दहीं सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है।
सूनो कर गये भाल, छोर छोर कण्ठमाल,
दूसरो दिनेस और कौन देखियतु है।
सोहत टिकैत मधुसाह मनियारे इमि,
नागन के बीच मनियारे पेखियतु है।

स्पष्ट है कि जब मधुकरशाह दिल्ली दरबार में गये, तब वे श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ के शरणागत नहीं हुए थे। क्योंकि जब अकबर ने उनसे सिंह की शिकार पर चलने के लिए कहा, तब नृसिंह के उपासक होने के कारण उन्होंने मना कर दिया। बात बिगड़ गयी और मधुकरशाह ओड़छा चले आये। न्यामतकुली खाँ, अलीकुली खाँ, जामकुली खाँ आदि अनेक खान बुन्देलखंड पर टूट पड़े और अपने मुँह की खाकर लौटे भी। सन् १५७७ ई० में मुहम्मद सादिक खाँ के आक्रमण के साथ गुसाईं जी के परम-सेवक नरवर के आसकरण कछवाहा* भी थे। इस युद्ध में मधुकरशाह के एक राजकुमार होरलदेव वीरगति को प्राप्त हुए और दूसरे राजकुमार रामसिंह घायल हो गये। मधुकरशाह को मुगलों से सन्धि करनी पड़ी। इस विद्रोही बुन्देले को सदा के लिए अपने मोहन मंत्र से वश में करने के लिए ही संभवत: इसी समय श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ ओड़छा गये और वार्ताकार ने लिखा "सो वह मधुकरशाह ओड़छा को राजा हतो सो श्री गुसाईं जी महाराज एक समय ओड़छा

* श्री गोरेलाल तिवारी ने अपनी पुस्तक "बुन्देलखंड के संक्षिप्त इतिहास" में इन्हें भ्रमवश ग्वालियर का तोमर लिख दिया है। तोमरों में तो रामसिंह और उनके तीन पुत्र शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह बचे थे, इनमें से भी रामसिंह अपने दो पुत्र भवानीसिंह और प्रतापसिंह सहित सन् १५७६ ई० में हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप की ओर से मुगलों से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त कर चुके थे।

सखि मैं भइ न विरज की मोर।
उडि उडि पख गिरें धरती पै बीनत नंदकिसोर॥

तात्पर्य यह कि आसकरण गोस्वामी जी के धार्मिक सिद्धान्तों के कारण नहीं, ग्वालियरी संगीत के कारण आकर्षित हुए थे और आकर्षित हुए थे मुगलों की कृपा बनाये रखने के लिए, जिसका एक सरल साधन उस समय पुष्टिमार्ग था।

हम पहले लिख चुके हैं कि यद्यपि तानसेन ग्वालियर के थे, और वे अकबरी दरबार के सर्वश्रेष्ठ गायक थे, फिर भी वे ध्रुपद गायकी में उतने पारंगत न थे, जितने ग्वालियर के मानसिंह-कालीन संगीतज्ञ थे।

तानसेन और ध्रुपद

हम इस विषय में फकीरुल्ला की साक्षी भी उद्धृत कर चुके हैं*। वार्त्ता-साहित्य से भी इसकी पुष्टि होती है। ग्वालियरी संगीत के मर्मज्ञ गोविन्द स्वामी से तानसेन को यही संगीत सीखना था और इसके लिए उन्होंने भी कण्ठीमाला धारण करली। मुहम्मद गौस से जिस संगीत को सीखने के लिए त्रिलोचन पांडे से वे तानसेन बनने में न हिचके, उसका परिमार्जन और परिष्कार करने के लिए उन्हें दो सौ बावन वैष्णवों में सम्मिलित होने में क्या झिझक हो सकती थी?

वार्त्ता में (दो सौ वैष्णवन की वार्त्ता, क्रमांक २४६) बुन्देलखंड के महाराज मधुकरशाह को भी श्री गुसाँई जी महाराज का कृपा-पात्र कहा गया है।

मधुकरशाह बुन्देला

मधुकरशाह नृसिंह के भक्त थे। मुगल सम्राट अकबर ने उन्हें वशवर्त्ती करने का पूर्ण प्रयास किया। वे उसके दरबार में गये भी। परन्तु उनके रामानन्दी तिलक के कारण अकबर उनसे रुष्ट हो गया। इस घटना का वर्णन किसी कवि ने किया है:—

हुकुम दियो है बादशाह ने महीपन को,
राजा, राव, राना, सो प्रमानु लेखियतु है।

---

* पीछे पृष्ठ ७५ देखिए।

चन्दन चढायो कहूँ देवपद वन्दन को,
 दैहो सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है।
सूनो कर गये भाल, छोर छोर कण्ठमाल,
 दूसरो दिनेस और कौन देखियतु है।
सोहत टिकैत मधुसाह अनियारे इमि,
 नागन के बीच मनियारे पेखियतु है।

स्पष्ट है कि जब मधुकरशाह दिल्ली दरबार में गये, तब वे श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ के शरणागत नहीं हुए थे। क्योंकि जब अकबर ने उनसे सिंह की शिकार पर चलने के लिए कहा, तब नृसिंह के उपासक होने के कारण उन्होंने मना कर दिया। बात बिगड़ गयी और मधुकरशाह ओड़छा चले आये। न्यामतकुली खाँ, अलीकुली खाँ, जामकुली खाँ आदि अनेक खान बुन्देलखंड पर टूट पड़े और अपने मुँह की खाकर लौटे भी। सन् १५७७ ई० में मुहम्मद सादिक खाँ के आक्रमण के साथ गुसाईं जी के परम-सेवक नरवर के आसकरण कछवाहा* भी थे। इस युद्ध में मधुकरशाह के एक राजकुमार होरलदेव वीरगति को प्राप्त हुए और दूसरे राजकुमार रामसिंह घायल हो गये। मधुकरशाह को मुगलों से सन्धि करनी पड़ी। इस विद्रोही बुन्देले को सदा के लिए अपने मोहन मंत्र से वश में करने के लिए ही संभवत इसी समय श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ ओडछा गये और वार्ताकार ने लिखा "सो यह मधुकरशाह ओड़छा को राजा हतो सो श्री गुसाईं जी महाराज एक समय ओड़छा

* श्री गोरेलाल तिवारी ने अपनी पुस्तक "बुन्देलखड के सक्षिप्त इतिहास" में इन्हें भ्रमवश ग्वालियर का तोमर लिख दिया है। तोमरो में तो रामसिंह और उनके तीन पुत्र शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह बचे थे, इनमें से भी रामसिंह अपने दो पुत्र भवानीसिंह और प्रतापसिंह सहित सन् १५७६ ई० में हल्दीघाटी के युद्ध मे महाराणा प्रताप की ओर से मुगलो से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त कर चुके थे।

पधारे हते सो यह राजा सेवक भयो और श्री ठाकुर जी महाराज की सेवा करन लगे।"

यह समय सन् १५७७ और १५९१ के बीच का हो सकता है। मधुकरशाह कृष्णभक्त तो हो गये, पहले से ही थे, परन्तु वे विट्ठलनाथ जी अथवा गोकुल-वृन्दावन का यश न गा सके। उन्होंने लिखा :—

ओड़छो वृन्दावन सौ गाँव।
गोवरधन सुख-सील पहरिया जहाँ चरत तृन गाय।
जिनकी पदरज उड़त सीस पर मुक्त मुक्त हो जायँ॥
सप्तधार मिल बहत बेत्रवे जमना जल उनमान।
नारी नर सब होत पवित्र कर-कर के स्नान॥
सो थल तुंगारण्य बखानो ब्रह्मा बेदन गायौ।
सो थल दियो नृपति मधुकर कौ श्री स्वामी हरदास बतायौ॥

उनके स्वामी हरिदास तथा हरिराम व्यास की व्यवस्था तो यही थी कि तुंगारण्य ही उनका वृन्दावन है। श्री गुसाईं जी का रंग उन पर न जम सका। परिणाम जो होना था वही हुआ। सन् १५९१ में मुराद ने मधुकर शाह की स्वतंत्रता समाप्त करदी और वे अगले वर्ष स्वर्गवासी हुए। जिस बुन्देला राजा की रानी गणेशकुँवरि अयोध्या से रामराजा की मूर्ति लाकर ओड़छे में उसकी स्थापना करे और जो श्री गुसाईं जी का साम्प्रदायिक एवं तदनुगामी राजनीतिक उपदेश न माने, उसे यह दण्ड मिलना ही चाहिए था। वार्त्ता में कुछ भी लिखा हो, मधुकरशाह कभी पुष्टिमार्गी नहीं बने यह निश्चित है, हाँ श्री गुसाईं जी ने प्रयास पूरा किया।

वल्लभ-सम्प्रदाय और ग्वालियर

श्री महाप्रभु और श्री गुसाईं जी के इन सम्पर्कों को देखते हुए उनका बुन्देलखंड और ग्वालियर से, उसके संगीत तथा साहित्य से निकट सम्पर्क स्पष्ट है। आसकरण कछवाहा, गोविन्द स्वामी, कान्हबाई, तानसेन आदि ने ग्वालियरी भाषा और संगीत को उनकी धर्म-सभा में

पहुँचाया। यह अवश्य है कि उनकी राजनीति मे बुन्देलखड ने साथ नहीं दिया, ग्वालियर ने तो बिल्कुल नहीं। अतएव उनके द्वारा एक नयी सृष्टि की गयी, वार्त्ता-साहित्य में भी और भाषा के क्षेत्र में भी। वार्त्ता-साहित्य से ग्वालियर का नाम उडा और भाषा के क्षेत्र से ग्वालियरी का। यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वीपति अकबर और उसके दरबारियों का लगाव वल्लभकुल के उपदेशों से उतना नहीं था जितना उनकी धर्म-सभा को ग्वालियर से प्राप्त हुए संगीत तथा पद-साहित्य से और उसकी आडम्बर-पूर्ण माधुर्य-भक्ति में प्राप्त मनोविनोद के साधनों से। वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुयायी होने का अर्थ उस समय मुगल साम्राज्य की सत्ता को तन और मन से स्वीकार करना हो गया था। इस राजनीतिक कारण से भी मुगल दरबार उन पर कृपावन्त था। इस प्रसग पर हम कुछ और प्रकाश आगे डालेंगे। जहाँ तक भाषा और साहित्य के विकास को समझने का प्रश्न है, पुष्टिमार्ग और बुन्देलखड के आपसी सम्बन्धों के विषय में ऊपर लिखी जानकारी ही पर्याप्त है।

'ग्वालियरी' नाम का विलोपन

मध्यदेश में हिन्दी का ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक महोबा, दिल्ली, मेवाड़ और ग्वालियर में पोषण होकर पूर्ण विकसित काव्यभाषा के रूप में निर्माण हुआ। उसके देशी भाषा, भाषा आदि स्थाननिरपेक्ष नामों के अतिरिक्त ग्वालियरी भाषा नाम कैसे पड़ गया और फिर क्योंकर वह नाम ब्रजभाषा नाम में परिवर्तित कर दिया गया यह सोचने और गम्भीरता से समझने का विषय है। जैसा हम पहले अनेक स्थलों पर लिख चुके हैं, भाषा के रूप से इस नाम-परिवर्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके पीछे दो प्रबल विचारधाराओं का द्वंद्व छिपा है। इतिहास तो यह कहता है कि ब्रजभाषा नाम का प्रारम्भ मुगलों की उस सांस्कृतिक विजय के प्रयास का परिणाम है जिसके लिए आधुनिक महाकवि निराला ने अपनी ओजपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी वाणी में लिखा है* —

ग्वालियरी नाम के विलोपन की मूल भावना

> भारत के नभ का प्रभापूर्य
> शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
> अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ् मंडल,

तथा—

> यो मोगल-पद-तल प्रथम तूर्ण
> सम्बद्ध देश-बल चूर्ण-चूर्ण,
> इसलाम-कलाओं से प्रपूर्ण जन-जनपद,

---

* सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तुलसीदास, पृष्ठ १ तथा ६।

सचित जीवन की, क्षिप्रधार,
इसलाम सागराभिमुखऽपार
बहती नदियाँ, नद, जन-जन हार वशंवद ।

मध्यदेश की भाषा का ग्वालियरी नाम उन परम्पराओं को अपने साथ लिये हुए था जिनकी रक्षा के लिए मेवाड के राणा, ग्वालियर के तोमर और गढकुडार तथा ओडछे के बुन्देले लडते रहे, जिनके लिए काशी और कन्नौज के गहरवार, दिल्ली के चौहान, मालवे के परमार तथा ऐसे ही अनेक राजवंश समाप्त हुए थे। यह नाम उस परम्परा का है जिसकी रक्षा केशवदास करना चाहते थे और लोक लीक की स्थापना करने वाले राम रूप का स्मरण करने लगे थे। इसकी रक्षा के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने अनेक यातनाएँ भोगीं और अपनी मन्त्रपूत वाणी द्वारा राम के लोककल्याणकारी रूप के रक्षा-कवच का निर्माण किया। उन्हीं परम्पराओं की रक्षा का प्रयास समर्थ रामदास की वाणी द्वारा किया गया था और जब तक मराठे इस महान मन्त्रद्रष्टा के निर्देशित मार्ग पर चले, तब तक उनके द्वारा भी हुआ। हमारा यह निवेदन भावावेश का परिणाम नहीं, इतिहास की सर्वविदित ठोस घटनाओं पर आधारित है।

ग्वालियरी नाम की भावना

मुसलमान भारत में आए, उनकी सैनिक विजय भी हुई, परन्तु मुगलों के पूर्व वे कभी स्थायी रूप से जम नहीं सके। देश के किसी न किसी कोने में अवसर पाते ही हिन्दुओं का विद्रोह भडक उठता और नये राज्य स्थापित हो जाते थे। मुसलमानों ने अपने आप को मुगलों के पूर्व सदा विदेशी अनुभव किया। राणा संग्रामसिंह ने बाबर को लोदियों के विरुद्ध इस कारण निमन्त्रण दिया था कि लोहे से लोहा काट दिया जाय। उनका अनुमान था कि मुगल इन अफगानों को परास्त कर लौट जाएँगे और भारत में फिर हिन्दू राज्य के संस्थापन का अवसर मिल

मुगलों का प्रयास

सकेगा। राणा ने सोची तो दूर की थी, पर होनी कुछ और ही करने वाली थी। हुमायू को शाह तहमास्प ने राजपूतों से निकट सम्बन्ध स्थापित करने का उपदेश दिया* और उसका पूर्ण पालन करने का अवसर मिला अकबर को। मुगलों के पहले सूफी संत हिन्दुओं से जन सपर्क स्थापित करने का प्रयास करते रहे थे, परन्तु वह प्रयास अधिक सफल न हो सका। अकबर ने यह नीति बहुत कुछ बदल दी। उसने जहाँ कुछ युद्धों से थके हुए एव सुलभ वैभव प्रिय राजपूत राजाओं से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये, वहाँ उसने वल्लभ-सम्प्रदाय का उपयोग भी हिन्दुओं के मुगल साम्राज्य के विरोध को कम करने के लिए किया। अकबर जैसा कूटनीतिज्ञ यह समझ गया था कि गोकुल के इन मोहन-मत्र-दाताओं द्वारा हिन्दुओं की प्रतिरोध की शक्ति का ह्रास अवश्यभावी है। उसकी नीति धार्मिक उदारता पर आधारित नहीं थी, अन्यथा न तो तुलसीदास का नाम मुगल इतिहासकारों द्वारा उनके इतिहास ग्रन्थों में वर्ज्य समझा जाता और न अयोध्या के राममन्दिर का बाबरी मजिस्द से रूप-परिवर्तन असम्भव हो सकता, और न मथुरा-वृन्दावन मे अनेक कृष्ण-मन्दिरों का निर्माण करने की आज्ञा देकर अयोध्या और काशी के राम-मन्दिरों के प्रति वह अनुदार हो जाता। जैसे-जैसे अकबर का साम्राज्य जमता और बढ़ता गया, पुष्टिमार्ग भी वैसे ही वैसे विस्तार पाता गया। ग्वालियर का अथवा पुष्टिमार्ग का इतिहास विस्तार से इस पुस्तक में लिखना सम्भव नहीं, उसकी आवश्यकता भी नहीं। यहाँ इस पुस्तक की सीमाओं मे रह कर, हम केवल अत्यन्त सक्षेप में उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे, जिनके कारण हिन्दी का कुछ शताब्दियों तक ग्वालियरी नाम रह कर उसे ब्रजभाषा नाम मिला। इसके लिए वल्लभ-सम्प्रदाय के राजनीतिक रूप पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

---

* गौरीशकर हीराचन्द ओझा· राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ३११।

भाषा एवं धार्मिक राजनीति के क्षेत्र में सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से जो परिवर्त्तन प्रारंभ हुआ, उसे समझने के लिए पुष्टिमार्ग के इतिहास की कुछ घटनाएँ एवं तिथियाँ स्मरण रखने योग्य हैं। जब ग्वालियर के तोमरों का प्रताप अपनी चरम सीमा पर था, उसी समय

वल्लभ-सम्प्रदाय

ईसवी सन् १४६३ में गोदावरी तटवर्त्ती कांकरवाड़ निवासी द्वादश वर्षीय तैलंग ब्राह्मणकुमार वल्लभाचार्य ने उत्तर भारत की यात्रा प्रारंभ की। काशी, उज्जैन होते हुए वे सन् १४६३ ई० में गोकुल पहुँचे। सन् १५०१ ई० में गोवर्धन में उनके द्वारा श्रीनाथ जी के मंदिर की स्थापना हुई। यह वह समय था जब समस्त भारत में कृष्णभक्ति की एक लहर फैल चुकी थी। बंगाल, उड़ीसा, असम और बिहार में कृष्ण की मधुर लीलाओं का गान प्रारंभ हो गया था। पूरब में ब्रजराज, ब्रजभूमि और ब्रजबोली लोक-मानस को आकृष्ट कर रहे थे। दक्षिण में तो यह भक्ति की धारा प्रवाहित ही हुई। मध्यदेश, राजस्थान और गुजरात में भी कृष्णचरित्र की ओर आकर्षण प्रारंभ होगया था। कृष्ण का लीलास्वरूप जैन ग्रन्थकारों को भी आकर्षित कर चुका था। उसी समय पुष्टिमार्ग की मधुर भक्ति का स्रोत प्रवाहित होना प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में यह कृष्ण के बाल-गोपाल रूप को प्राधान्य देकर चला, परन्तु धीरे-धीरे सख्य एवं सखी भाव की ओर अग्रसर होता गया।

भाषा के क्षेत्र में सर्वप्रथम वल्लभाचार्य जी ने नाम-परिवर्तन प्रारम्भ किया। वे हिन्दी में उपदेश देते थे और उस भाषा को पुरुषोत्तम-भाषा कहते थे। यह उनके लिए आवश्यक भी था। उनके समय में ग्वालियर दिल्ली शासकों का प्रबल विरोधी था, लोदियों का भी

पुरुषोत्तम-भाषा

और फिर मुगलों का भी। अपने उपदेशों की लोक-भाषा का नाम ग्वालियरी भाषा देने से गोकुल के तत्कालीन शासकों का उन्हें कोप-भाजन बनना पड़ता, अतएव इस झगड़े से बचने के लिए पुरुषोत्तम-भाषा नाम श्री वल्लभाचार्य द्वारा अपनाया गया। ग्वालियरी भाषा नाम के विलोपन की यह प्रथम सीढ़ी थी। वल्लभाचार्य

के समय तक पुष्टिमार्ग दिल्ली की राजनीति से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका था। उनका तिरोधान सन् १५३० ई० में होगया। तब तक मुगल अपनी जड़ें भारत में नहीं जमा सके थे। ईसवी सन् १५२६ में पानीपत के युद्ध में बाबर विजयी हुआ ही था और उसकी नीति भारत से सम्पर्क स्थापित करने की नहीं थी।

वल्लभ सम्प्रदाय को अत्यन्त विशद रूप गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में प्राप्त हुआ। पुष्टिमार्गी आचार्यों में ये अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति होगये हैं। सन् १५५० ई० में ये विधिवत पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य बना दिये गये। इस घटना के छह वर्ष पश्चात सन् १५५६ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर अकबर आसीन हुआ। अपने प्रारम्भिक जीवन में ये दोनों महापुरुष अपने अपने मार्ग पर आगे बढ़ते गये। गोस्वामी जी ने सम्प्रदाय के वैभव और प्रभाव को बहुत अधिक बढ़ाया और अकबर ने लगभग समस्त उत्तर भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। उसने कुछ राजपूत राजाओं से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे। सर्व प्रथम कछवाहा राजा भारमल की राजपुत्री से सन् १५६२ में विवाह सम्बन्ध स्थापित कर अकबर ने हुमायूं को शाह तहमास्प द्वारा दी गयी शिक्षा का श्रीगणेश किया था। सैन्यबल से उत्तर भारत के कुछ राजपूतों का राज्य जीत तो लिया गया, परन्तु जब तक उनके मन को न जीता जाता तब तक मुगल साम्राज्य ज्वालामुखी के मुहाने पर ही स्थित रहता। मेवाड़ के राणा और बुन्देलखण्ड के बुन्देले तथा कुछ अन्य राजपूत कभी भी मुगल साम्राज्य को समाप्त करने का प्रयास कर सकते थे। अम्बर के राजा से विवाह-सम्बन्ध यद्यपि उस वैमनस्य को दूर करने का प्रबल प्रयास था, परन्तु उसके कारण अम्बर के कछवाहों को ही नीचा देखना पड़ रहा था, भारत से वास्तविक तादात्म्य स्थापित करने के लिए कुछ और करने की आवश्यकता थी।

विट्ठलनाथ जी

सन् १५७७ ई० में विट्ठलनाथ जी से अकबर की प्रथम भेंट आगरा में

हुई। उस समय तक मुगल दरबार में जितने हिन्दू राजा, सामन्त, कलावन्त कृपापात्र हो चुके थे, वे सब धीरे धीरे विट्ठलनाथ जी के शिष्य होने लगे। राजा टोडरमल, बीरबल, आसकरण कछवाहा, बीकानेर के पृथ्वीसिंह, तानसेन आदि श्री गुसाईं जी महाराज के कृपापात्र बने। इनके अतिरिक्त अब्दुल रहीम खानखाना का झुकाव भी इनकी ओर हो गया था। मुगल सम्राट की माता हमीदाबानू तथा अकबर के हरम की अनेक राजमहिषियाँ गुसाईं जी की चेली बनीं। वार्त्ता का कथन है कि रूपमंजरी जो पृथ्वीपति (अकबर) की परिणीता थी, नित्य रात को आकाश मार्ग (?) से उड़कर गोसाईं जी के सेवक नन्ददास जी के पास आती थी। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को मुगलों की ओर से न्यायाधीश के अधिकार भी प्राप्त हुए। उन्हें निर्भय रहने के फरमान निकाले गये*। गोकुल और महावन की भूमि जागीर में दी गयी। विट्ठलनाथ जी को 'गुसाईं जी' की पदवी भी अकबर की दी हुई है। ऐसे अनेक प्रसंग आए जब गोसाईं जी के पद ने मुगल दरबार में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाए।

मुगल दरबार और पुष्टिमार्ग

अकबर का पुष्टिमार्ग के आचार्य के प्रति उनके धार्मिक सिद्धान्तों के कारण आकर्षण नहीं था। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि इसका एक कारण गुसाईं जी की सभा का संगीत और आमोद पूर्ण वातावरण भी था। साथ ही इसका एक राजनीतिक कारण भी था। अकबर को हिन्दुओं की स्वातन्त्र्य भावना तथा इसी कारण राम की भक्ति से सदा भय रहता था। पुष्टिमार्ग में श्री कृष्ण का जो रूप अपनाया गया था, वह उनका रसिक शिरोमणि का था तथा उनके अनुग्रह की प्राप्ति के लिए प्रेमलक्षणा भक्ति का, विशेषतः गोपांगनाओं के

अकबर के ममत्व का कारण

---

* कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी इम्पीरियल फरमान्स फरमान संख्या १, २ तथा ३।

परकीया प्रेम का सरस मार्ग निर्धारित किया गया था। हिन्दुओं के नैतिक स्खलन की जो सभावना इसमें थी, उसमें मेवाड़ के राणा प्रताप जैसे मुगल सल्तनत के शूल अधिक उत्पन्न नहीं हो सकते थे।

उत्तर भारत में अकबर को मेवाड के राणा और बुन्देलखंड, दो सदा दुखद कण्टक रहे। अकबर की सेना ने चित्तौड को तहस-नहस कर दिया। परन्तु राणाओं की स्वातन्त्र्य भावना का दमन न हो सका।

मेवाड और बुन्देलखड

विट्ठलनाथ जी ने वहाँ अपना प्रभाव जमाने का प्रयास किया। वार्त्ता का कथन है कि मीराबाई ने कृष्ण की परम भक्त होते हुए भी गुसाईं जी का शिष्यत्व ग्रहण नहीं किया। इसका कारण उनका मेवाड़ के तेजस्वी कुल से सम्बन्ध ही हो सकता है। वार्त्ताओं में मीराबाई के विषय में जो "दारी रांड"* जैसे अपमान-जनक शब्द लिखे हैं, वे इसी धार्मिक राजनीति के परिणाम हैं। बुन्देले मधुकरशाह के शिष्यत्व के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। वल्लभाचार्य के समय का विशुद्ध भक्तिमार्गी सम्प्रदाय विट्ठलनाथ जी के समय तक मुगल राजनीति का हस्तक बन गया था।

मुगल दरबार में ग्वालियरी

परन्तु मुगल दरबार का एक अंश ऐसा भी था जो विट्ठलनाथ जी की ओर अधिक आकर्षित नहीं हो सका था। वह भाषा की ऐतिहासिक परम्परा के नाम को ही स्वीकार करता था। मौलाना हाफिज मुहम्मद महमूदखां शेरानी ने लिखा है "फारसी अहलकलम उर्दू को हिन्दी या हिन्दवी कहते हैं और व्रज को ग्वालियरी। मुगलिया अहद के मुसन्नफीन अबुल फज़ल, अब्दुल हमीद लाहौरी, मुहम्मद सालह, बल्कि खान आरज़ू तक व्रज को इसी नाम से पुकारते हैं।"† इसके विपरीत विट्ठलनाथ जी के

* चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता, पृष्ठ २०७।

† ओरिएण्टल कालेज मेगजीन, नवम्बर, १६३४, पृष्ठ २ (श्री चन्द्रबली पाडे के 'केशवदास' में पृष्ठ २६३ पर उद्धृत)।

परम शिष्य पृथ्वीसिंह रचित 'वेलि' के अनुवादक गोपाल ने उसे 'ब्रजभाषा' कहा है। वल्लभाचार्य की पुरुषोत्तम भाषा भी गयी, और भाषा के विकास परम्परा की ग्वालियरी भी छूटी तथा रह गया ब्रजभाषा नाम, जो बंगाल की ब्रजबोली को बड़ा बना कर—भाषा बना कर, रखा गया था।

शासकीय रूप से ब्रजभाषा नाम मुगलों के इतिहास-लेखकों ने स्वीकार नहीं किया। मराठों और महाराष्ट्र ने भी उसे नहीं माना, जैसा कि केन्द्रकर और महादजी शिन्दे के प्रसंग में हम पहले लिख चुके हैं।

अंग्रेज और ब्रजभाषा

फिर यह अंग्रेजी राज्य में कैसे मान्य हो गया, यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है। अंग्रेजों ने हिन्दी सीखी श्री लल्लूलाल से। उन्हें फोर्ट विलियम कालेज में सन् १८०० ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेज अफसरों को हिन्दी पढ़ाने के लिए नियुक्त किया गया। इनके द्वारा हितोपदेश का अनुवाद 'राजनीति' नाम से किया गया और उसकी भाषा का नाम ब्रजभाषा दिया गया। जिस प्रकार लल्लूलाल जी के प्रेम-सागर से हिन्दवी, हिन्दी या खड़ी बोली नाम स्वीकृत हुए और चल गये, उसी प्रकार उनकी पुस्तक राजनीति से ब्रजभाषा नाम चल गया। बंगाल में जन्मा हुआ यह ब्रजभाषा नाम इस प्रकार मध्यदेश में आया और जब अंग्रेज शासकों द्वारा मध्यकालीन काव्यभाषा के लिए स्वीकृत हो गया, तब हमारे वर्तमान भाषा और साहित्य के विवेचकों ने भी उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु जैसा हम पहले अनेक बार लिख चुके हैं, केवल यह नाम ही स्वीकार किया गया। काव्यभाषा का रूप मथुरा गोकुल की सीमा तक, कुछ अत्यन्त उत्कट ब्रजभक्तों के अतिरिक्त किसी ने नहीं माना। कविरत्न श्री सत्यनारायण के 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' के अनुवादों की भाषा की आलोचना करते हुए प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है* "कविरत्न जी के ये दोनों अनुवाद बहुत ही सरस हुए हैं जिनमें मूल के भावों की रक्षा का

---

* रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४६।

भी पूरा ध्यान रखा गया है। पद्य अधिकतर ब्रजभाषा के सवैयों में है जो पढ़ने में बहुत मधुर है। इन पद्यों में खटकने वाली केवल दो बातें कहीं-कहीं मिलती हैं । पहली बात तो यह कि ब्रजभाषा साहित्य में स्वीकृत शब्दों के अतिरिक्त वे कुछ स्थलों पर ऐसे शब्द ले आए हैं जो एक भू-भाग तक ही (चाहे वह ब्रजमंडल के अन्तर्गत ही क्यों न हो) परिमित हैं। शिष्ट साहित्य में ब्रजमडल के भीतर बोले जाने वाले सब शब्द नहीं ग्रहण किये हैं । ब्रजभाषा देश की सामान्य काव्यभाषा रही है। अतः काव्यों में उसके वे ही शब्द लिये गये हैं जो बहुत दूर तक बोले जाते हैं और थोड़े बहुत सब स्थानों में समझे जाते हैं।" इसलिए हमारा निवेदन है कि ब्रजभाषा केवल एक नाम है, किसी भाषा के रूप का प्रतीक वह नहीं है, हिन्दी की विकास-परम्परा का भी वह नाम नहीं है। जो भूल हमारे साहित्य के इतिहासों में हुई, उसे सत्यनारायण जी द्वारा भावुकता वश, जरा ज्यादा खींच दिया गया।

ग्वालियरी दोहे

मध्यकालीन हिन्दी को ग्वालियरी भाषा नाम देने में ग्वालियर के गेय पदसाहित्य ने जो योग दिया, उसका विवेचन हम पिछले कुछ परिच्छेदों में कर चुके हैं। जिस भाषा ने गेय पदसाहित्य में नवीन परिष्कृत रूप धारण कर समस्त भारत में विस्तार पाया तथा जिन कारणों से और जिन परिस्थितियों में यह विस्तार हुआ, उसका विवेचन भी हो चुका। परन्तु गेय पद-साहित्य ही बुन्देलखण्ड या ग्वालियर की एक मात्र देन नहीं है। पन्द्रहवीं शताब्दी और प्रारंभिक सोलहवीं शताब्दी में ग्वालियर और ओड़छा में हिन्दी साहित्य की शेष तीन प्रवृत्तियों ने भी विकास पाया। वे तीन काव्य धाराएँ हैं--दोहा साहित्य, प्रबन्धकाव्य और रीति-ग्रन्थ। आगे के परिच्छेदों में इन तीनों के विषय में विचार करना अभीष्ट है। सर्व प्रथम हम दोहा-साहित्य के उद्गम और विकास का विवेचन करेंगे।

दोहा साहित्य प्रबन्धकाव्य और रीति-ग्रंथ

दोहा-साहित्य पर विचार करते समय हम पुन एक बार वजही का उल्लेख करने के लिए बाध्य हैं। वजही ने ग्वालियर के चतुरों के दोहे अपने 'सबरस' मे उद्धृत किये हैं*। वे उसके मन में घर कर गये थे और सन् १६०० में उसे सुदूर दक्षिण में भी स्मरण रहे थे। जीवन-दर्शन के रहस्यों से भरे हुए ये मार्मिक दोहे सन् १६०० के पूर्व ग्वालियर में किसने लिखे? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें अभी नहीं मिल सका है। श्री भा० रा० भालेराव ने हमें किसी मोहनदास के सोरठों का बहुत बड़ा

वजही

* पीछे पृष्ठ २४ देखिए।

संग्रह दिखाया। मोहनदास सोलहवीं शताब्दी के तँवरधार के संत कवि हैं। उनके सोरठे सुन्दर हैं परन्तु वे वजही को प्रभावित नहीं कर सकते। आखिर ये दोहे गये कहाँ?

इसका कुछ उत्तर तो वजही द्वारा ही मिल जाता है। वजही ने एक दोहा उद्धृत किया है:—

कबीर की साखियाँ

पोथी थी सो खोटी भई, पंडित भया न कोय।
एकै आखर पेम का पढै सो पंडित होय॥

कबीर के नाम से भी एक दोहा प्रसिद्ध है*:—

पोथी पढ पढ जग मुवा, पंडित भया न कोय।
एकै अच्छर पीव का पढै सो पंडित होय॥

यही दशा वजही द्वारा उद्धृत अन्य दो दोहों की है। इसका क्या रहस्य है? क्या वजही को यह ज्ञात नहीं था कि ये दोहे कबीर के कहे हुए हैं। जैसे उसने अमीर खुसरो का पद्य उसके नाम से ही लिखा है, वैसे वह इन दोहों का जनक कबीर को न लिखते हुए 'ग्वालेर के चातुरां' 'ग्वालेर के सुजान' तथा 'ग्वालेर के गुनी' के नाम क्यों लिखता है? सब जानते हैं संत कबीर ने कोई पोथी लिखी नहीं, आगे उनके शिष्यों ने उनकी वाणी को संग्रहीत किया है। तब क्या ये ग्वालियरी टकसाल के दोहे कबीर के नाम से चलने लगे? बात दिखती तो कुछ ऐसी ही है।

सन् १५५९ (संवत् १६१६) में जेसलमेर में वाचक कुशललाभ ने माधवानल कामकन्दला चउपई लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना यह है:—

कुशललाभ के दोहे

संवत सोल सोलोत्तरइ, जेसलमेरु-मझारि।
फागुण सुदि तेरसि दिवसि, विरची आदितवार॥
गाहा गूढा चउपई, कवित कथासम्बन्ध।
कामकंदला कामिनी, माधवानल सम्बन्ध॥

---

* श्यामसुन्दरदास : कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३९।

कुशललाभ वाचक कहइ, सरस चरित सुप्रसिद्ध ।
जे वाचइ जो संभलइ, त्रिया मिलई नवनिद्ध ॥
'गाया साड़ी पचसइ, ग्रे चउपई प्रमाण ।
साह सुणता सुख दियइ, जे हुर चतुर सुजाण ॥
राउल माल सुपाट घर, कुंवर श्री हरिराजि ।
विरच्यो इइ सिणगार रस, तास कुतूहल-काजि ॥

इस प्रकार की भाषा के सहारे कुशललाभ का कथाप्रवाह चलता है । एक स्थान पर उसके इस ग्रन्थ में प्रसंग चलता है*:— .

पूरव भव सिणेह रस, लोयण जाणावंति ।
अप्पिय दिठ्ठइ मउलीयइ, पिउ दिठ्ठइ विहसंति ॥२०८॥
नयण पदारथ नयण रस, नयणें नयण मिलंति ।
अणजाण्या सिउ प्रीतडी, पहिली नयण करंति ॥२०६॥
नयण मिलतो मन मिलइ, मन मिली वयण मिलंति ।
ग्रे त्रिणि मेलेवी करि, काया-गढ भेलंति ॥२१०॥

परन्तु अचानक अगले चार दोहे कुछ और प्रकार की ही भाषा में हैं । वे इस प्रकार हैं —

लोचन तुम ही लालची, अति लालच दुख होइ ।
झूठा सा पच्चूत्तर मोहै, साच कहैगो लोइ ॥२११॥
लोचन वपरे क्या करे, परे प्रेमके जाल ।
पलक विजोग न खम सकें, देख देख भए लाल ॥२१२॥
लोचन बडे अपत्त हैं, लगैं पर मुख धाइ ।
आगि बिडाणी आणिकै, तन में देत लगाइ ॥२१३॥
लाली मेरे लाल की, जित देखु तित लाल ।
लालन देखन मैं चली, मैं भी भई गुलाल ॥२१४॥

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के समाप्त होते-होते (सन् १५५६ ई०)

---

* मजूमदार : माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध : पृष्ठ ४०० ।

कुशललाभ यह किसकी 'बिरानी आग' उठा लाए, कहाँ उनके 'अपत्त लोचन' लग गये। इस भाषा को यदि विष्णुदास, थेघनाथ तथा मानिक की भाषा से मिलाया जाए और साथ ही वजही के दोहों की भाषा से मिलाया जाए, तब ज्ञात होगा कि यह वही भाषा है जिसे जयकीर्ति* ने 'ग्वालेरी भाषा गुपिल' कहा है अथवा जिसे वजही ने ग्वालियर के चतुरों की वाणी कहा है।

महाकवि विहारीलाल की बात तो हम आगे कहेंगे, क्योंकि वे सत्रहवीं शताब्दी के दोहाकार हैं। यहाँ हम चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती का उल्लेख कर देना चाहते हैं। मधुमालती के रचना-काल पर हमने विस्तार से अन्यत्र प्रकाश डाला है†। यहाँ हम संक्षेप मे यह कह दें कि हमारे मत से चतुर्भुजदास सन् १५२६ के पूर्व का कवि है और पद्मनाभ, मानिक आदि कायस्थों की परम्परा का है। वह किस प्रकार के दोहे-सोरठे लिखता था, इसकी बानगी देख लीजिए.—

चतुर्भुजदास निगम

भई बिरह बस बाल मधु मूरति निरखी नयन।
मनहु कोवरी जाल, गिरी मीन ज्यो मालती॥
सुवटा मेवरि देख मनहु अब तें सुभ्र फल।
फुनि पाके ते पेख देह पिजारे लो भई॥
तिया हरन, बाधव मरन पुत्र हरन सुवियोग।
एतो दुख जिन सजियौ करहि विधाता जोग॥
तो तन औरै चाहि मोमन कछु औरै बसै।
ज्यो गूगे की गाह मन की मन मेंही रहै॥
मन कपूर की एक गति, कोऊ न करो हजार।
कक्कर कचन तजि रुच्यो, गुजा मिरच अरु सार॥

---

* पीछे पृष्ठ ३७ देखिये।

† प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती।

मो जलपंथी की भई ढिग अहि काठ तिराय।
जो न गहू तो बूढ़िहो गहू तो विषधर खाय ॥
ससि सूरज अर सुरसुरी श्रीपति सबै अनूप।
निस्वारथ पर घर गये भये दीन लघु रूप ॥
फूले कुमुद विसाल पंछी आश्रम को चले।
डरपन लागी बाल सखी सकल ढिग मालती ॥
मृगमद गजसिर स्वाति सुत पन्नग मुख मनिराज।
जाते निर्धन ही भलो जीवत न आवे काज ॥
अपनी अपनी गरज तें जग चितवत चहुँ ओर।
बिना गरज लरजै नहीं जगल हू को मोर ॥
सुख के साजन बहुत हैं दुख के देखे भीन।
सोना सज्जन बसन को विपत कसौटी कीन ॥
ग्यान दीप जौलौं सुथिर थिरकि रहै मन माँहि।
तिय लोचन चचल पवन तोलौं लागत नाँहि ॥
तहन पुरिस गहि वेदविधि तो लौ करहि सयान।
जो लौं उर भेद्यो नही तिय दृग बारिज बान ॥

वास्तव में यह समस्त दोहा-साहित्य संस्कृत-सूक्तियों, प्राकृत-गाथाओं और अपभ्रंश की सूक्तियों पर आधारित है। भाव वे ही हैं, भाषा अवश्य बदल गयी है। उदाहरण के लिए एक दोहा जो चतुर्भुजदास ने मधुमालती में लिखा है द्रष्टव्य है :—

दोहा-साहित्य का मूल

कम्मोदनि जल थल बसै चदा बसै अकास।
जो जाके मन भावतो सो ताही के पास ॥

इसे ही कुशललाभ ने इस प्रकार लिखा है:—

बाम कमोदन जल वसइ, चन्दो वसइ आकासि।
जे ज्याहि के मन वसइ, ते त्याही के पास ॥

ये दोनों ही दोहे संस्कृत के सुभाषित पर आधारित हैं।

प्रश्न यही है कि इन सूक्तियों एवं गाथाओं को काव्यभाषा में रूपान्तरित कहाँ किया गया होगा और उनकी टक्कर के दोहे कहाँ लिखे गये होंगे? वजही का प्रमाण, कुशललाभ के उद्धरण, चतुर्भुजदास के दोहे सब मध्यदेश और उसमें भी ग्वालियर की ओर इंगित करते हैं।

वैसे तो दोहे बहुत लिखे गये, परन्तु हिन्दी में वे अपने चरम विकसित रूप में बिहारीलाल की सतसई में दिखाई दिये। यदि *गीतिकाव्य की सीमा सूर में है, प्रबन्धकाव्य की तुलसी* के मानस में, तो दोहा-रचना की पराकाष्ठा बिहारी की सतसई में है। बिहारी की जन्म-भूमि विश्रुत है। उनका बालपन बीता बुन्देलखंड में :—

बिहारीलाल

जनमु ग्वालियर जानियै खण्ड बुंदेलै बालु।
तरुनाई आयी सुघर बसि मथुरा ससुरालु॥

बिहारीलाल केशव के पुत्र थे या नहीं, इसके विवेचन का यह स्थान नहीं, परन्तु उनका अध्ययन-मनन-काल इसी मार्मिक दोहे कहने वाले भूखण्ड का है, यह निर्विवाद है। उसका प्रसाद उन्हें मिर्जा राजा जयशाह की राजसभा में मिला, परन्तु इसका कारण यही था कि उनके समय तक यहाँ गुण तो बहुत बचा था, गुण-ग्राहक नहीं रह गये थे।

आज की जानकारी में ग्वालियरी दोहों पर इतना ही कहा जा सकता है। परन्तु अभी वजही द्वारा इंगित दोहों के भण्डार को खोज निकालने का काम शेष है। देखें भविष्य में किसी कचरे में ये रत्न मिलते हैं या नहीं? आगे के प्रकरण से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर में वह परिस्थिति थी अवश्य, जिसमें संस्कृत और अपभ्रंश के साहित्यों का प्रचुर मनन हुआ, उन दोनों भाषाओं में रचनाएँ भी हुईं और हिन्दी का काव्यभाषा का रूप भी निखरा।

पद्मावत, मानस और रामचन्द्रिका की पृष्ठभूमि

प्राप्त सामग्री के आधार पर अब तक हिन्दी साहित्य के जो इतिहास लिखे गये हैं उनमें तेरहवीं शताब्दी तक के कुछ अनिश्चित रूप तथा काल के प्रबन्ध-काव्यों का विवरण मात्र मिलता है। उनके पश्चात एक दम सोलहवीं शताब्दी के प्रबन्ध-काव्य सामने आते हैं। सोलहवीं शताब्दी में प्रबन्ध-काव्यों का रूप इतना पुष्ट मिलता है कि वे भी कुछ उलझन उत्पन्न करते हैं। जायसी के पद्मावत, केशवदास की रामचन्द्रिका तथा गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के मूल में यदि प्रबन्ध-काव्यों की कोई परम्परा न होती, तब वे साहित्य के इतिहास में चमत्कार ही माने जाते। भले ही तुलसी के मानस और केशव की रामचन्द्रिका के पीछे संस्कृत और अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यों की पृष्ठभूमि है, और जायसी के पीछे फारसी की मसनवियों की, फिर भी 'भाषा' में एकाएक इतनी प्रौढ़ रचना और स्वयं इस 'भाषा' की तदनुरूप अभिव्यक्ति-क्षमता बिना किसी परम्परा के संभव नहीं हो सकती। जिस प्रकार सोलहवीं शताब्दी की गेय पद-रचना की पृष्ठभूमि में मध्यदेश-ग्वालियर की गेय पद-रचनाएँ थीं, उसी प्रकार सोलहवीं शताब्दी के इन प्रबन्ध-काव्यों के पीछे भी मध्यदेश, विशेषतः ग्वालियर की प्रबन्ध-काव्यों की परंपरा थी। ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व मध्यदेश के तीन केन्द्र प्रबंध-काव्यों की सृष्टि कर रहे थे—महोबा, दिल्ली और मेवाड़। ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रबन्ध-काव्यों के इस क्षेत्र का समाहार ग्वालियर में हुआ। इस प्रकार बीज रूप से सोलहवीं शताब्दी के जायसी, केशव और तुलसी के प्रबन्ध-काव्यों का मूल मध्यदेश में मिलता है।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्य

ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी, संस्कृत तथा अपभ्रंश में लिखे

गये समस्त प्रबन्ध-काव्यों का विवेचन न तो यहाँ सम्भव ही है और न उपयोगी ही। यहाँ स्वयंभू के पद्मचरित और यशोधरचरित तथा अन्य जैन लेखकों के पद्मचरित तथा यशोधरचरितों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इनमें ही हिन्दी के राम और कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों का मूल निहित है। विक्रमादित्य सम्बन्धी आख्यान साहित्य भी आगे प्रबन्ध-काव्यों को प्रेरणा देता रहा। ये प्रबन्ध काव्य सरस प्रेमाख्यानों के रूप में पश्चिम में लिखे गये। हितोपदेश, वैतालपच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी आदि की कथाओं पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे जा चुके थे, जो अत्यधिक लोकप्रिय भी हो चुके थे। राजपूतों के आश्रय में जगनिक तथा चन्दवरदायी ने वीर और शृंगार रसों से ओतप्रोत प्रशस्ति प्रबन्ध भी लिखे थे। इसी बीच रणथम्भोर के हम्मीरदेव और अलाउद्दीन के बीच लोमहर्षण संघर्ष हो चुका था। यह घटना कुछ वर्षों के भीतर ही भारत का राष्ट्रीय साका बन गयी और उस पर अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गये। मालवा के परमारों के काल में साहित्य और कलाओं की जो उन्नति हुई थी, उसकी परम्परा भी मध्यदेश को मिली। मालवा में जब परमारों पर संकट आया, तब वे धीरे-धीरे मध्यदेश की ओर बढ़ने लगे। उदयादित्य के समय में ही वे भेलसा के पास उदयपुर में राजधानी ले आए थे। बाद में तो परमारों को करहरा-पिछोर गिर्द में ही स्थान मिला और इस क्षेत्र में पमारी फैल गयी। महोबा के चन्देलों की राजसभा में प्रबन्ध काव्यों का अत्यन्त शालीन रूप प्रस्तुत किया गया था। जगनिक का उल्लेख पहले हम कर ही चुके हैं। सोमदेव का कथासरित्सागर सन् १०६३-१०८१ के बीच मध्यदेश में ही लिखा गया था। धंगदेव के समकालीन त्रिविक्रम भट्ट ने दमयंतीकथा लिखी और कीर्तिवर्मन् चंदेल की राजसभा में कृष्ण मिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लिखा गया। इसी नाटक को केशवदास ने अपनी विज्ञान-गीता का आधार बनाया। दिल्ली में अमीर खुसरो ने फारसी में बहुत प्रौढ़ मसनवियां

ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व का प्रबन्ध-साहित्य

काल में ग्वालियर द्वारा प्रबन्ध-काव्यों की रचना में दिये गये योगदान पर प्रकाश डालेंगे। सौ सवा सौ वर्ष में हिन्दी पर अपनी अमिट छाप छोड़ कर उसे ग्वालियरी भाषा नाम देने में ग्वालियर की पद रचना ने ही कार्य नहीं किया, प्रबन्ध-साहित्य ने भी योग दिया है, यह स्पष्ट है।

तोमर राज्य के संस्थापक वीरसिंह देव (१३६८ ई०) संस्कृत के विद्वान थे। हमने ग्वालियर में ही एक सज्जन के पास वैद्यक का एक संस्कृत ग्रन्थ देखा है। उसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह वीरसिंह देव तोमर का लिखा हुआ है। कह नहीं सकते कि वीरसिंह ने स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा था अथवा किसी ने उसके नाम से लिख दिया, परन्तु यह स्पष्ट है कि वीरसिंह विद्या व्यसनी था और उसके समय में शास्त्र-चिंतन और साहित्य सृजन यहाँ चल रहा था।

वीरसिंह तोमर

वीरसिंह के पश्चात उद्धरणदेव का राज्य हुआ। उसकी साहित्यिक अभिरुचि के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं। ईसवी सन् १४०२ में ग्वालियर की गद्दी पर वीरम अथवा विक्रमदेव तोमर बैठा। यह विक्रमदेव साहित्य का बहुत बड़ा आश्रयदाता था। जैन विद्वान नयचन्द्र सूरि ने इनकी प्रेरणा से ही हम्मीर महाकाव्य संस्कृत में लिखा। नयचन्द्र सूरि ने अपने इस महाकाव्य के अन्त में काव्य-रचना का हेतु यह लिखा है कि एक दिन सभा में तोमर महाराज वीरम ने कहा कि पहले कवियों जैसे काव्यों की रचना आजकल नहीं हो सकती। उनकी इस उक्ति पर एवं उनका संकेत पाकर नयचन्द्र सूरि ने यह महाकाव्य लिखा —

वीरम तोमर —नयचन्द्र सूरि

> काव्यं पूर्वकवेन काव्यसदृशं कश्चिद्विधाता धुने—
> त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपते सामाजिकैः संसदि।
> तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमना शृंगारवीराद्भुतं
> चक्रे काव्यमिदं हम्मीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः ॥

वीरम देव को दिल्ली के सुल्तान के सेनापति इकबाल खां से टक्करें हो रही थीं। उस वातावरण में हम्मीरदेव की वीरगाथा ही उसे प्रेरणा दे सकती थी।

वीरम देव स्वयं तो विद्वान और लेखकों के आश्रयदाता थे ही, उनके मंत्री कुशराज ने भी प्रबन्ध-काव्यों की रचना कराई। कुशराज जैन था। उसने पद्मनाभ नामक कायस्थ से संस्कृत में 'यशोधर चरित' नामक महाकाव्य लिखवाया। पद्मनाभ ने अपने इस महाकाव्य को प्रशस्ति में लिखा है :—

पद्मनाभ कायस्थ

> ज्ञाता श्री कुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणि ।
> श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान् ॥

वीरमदेव के समय से ही जैन धर्म का ग्वालियर में बहुत अधिक प्रवेश हो गया था। पद्मनाभ के उल्लेख के अनुसार वीरम का महान विश्वासपात्र मंत्री कुशराज जैनमतावलंबी था। इसी ग्रंथ में पद्मनाभ आगे लिखता है :—

> मन्त्री मन्त्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारिपक्ष. क्षणात् ।
> क्षोण्यामीक्षण रक्षण क्षममतिर्जैनेन्द्र पूजारत ॥
> स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिको ऽतिविमलच्चैत्यालय कारितो ।
> लोकाना हृदयगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्त प्रभो ॥
> येनैतत्समकालमेव रूचिर भव्य च काव्यं तथा ।
> साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापरम् ॥

पद्मनाभ को कुशराज का आश्रय था, साथ ही जैन भट्टारक महामुनि गुणकीर्ति का उपदेश प्राप्त था। वह आगे लिखता है:—

> उपदेशेन ग्रंथोऽय गुणकीर्तिमहामुने ।
> कायस्थ पद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रत ॥

जैन मुनियों और महामुनियों के निकट सम्पर्क ने ग्वालियर को सुदूर गुजरात तक की पिछली छह-सात शताब्दियों की साहित्य-साधना

के निकट ला दिया। गुप्तों के काल से कच्छपघातों के राज्य तक की वैष्णव एवं शैव परम्परा तो इसे प्राप्त थी ही, संस्कृत से भी निकट सम्पर्क था। अब अपभ्रंश साहित्य से भी घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के अगले राज्यों में यह सम्पर्क बहुत अधिक बढ़ गया। ग्वालियर और स्वर्णगिरि (सोनागिर) के जैन मन्दिरों में स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे महान जैन लेखकों के ग्रंथ आने लगे। श्री राहुल जी का मत है कि नानापुराणनिगमागम आदि के साथ अपने रामचरितमानस के लेखन में गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयंभू के पद्मचरित से भी स्फूर्ति ली थी। स्वयंभू रचित इस रामायण की सब से प्राचीन प्राप्त प्रति सन् १४६४ ईसवी में ग्वालियर में उतारी गयी थी *। स्वयंभू के हरिवंश पुराण का उद्धार भी ग्वालियर में यशःकीर्ति द्वारा किया गया था †। इस प्रकार तोमरकालीन ग्वालियर अपभ्रंश के महानतम राम और कृष्ण काव्यों से निकट सम्पर्क में आ गया था।

जैन सम्पर्क

सन् १४२४ ईसवी में डूंगरेन्द्रसिंह ग्वालियर के अधिपति हुए। डूंगरेन्द्रसिंह ने अपने राज्य की सीमाओं को भी बहुत अधिक विस्तृत किया, साथ ही साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में भी वीरमदेव की परम्परा को उसने बहुत आगे बढ़ाया। हम पहले लिख चुके हैं कि संगीत की डागुर वाणी इन्हीं डूंगरेन्द्रसिंह के आभीरों से निकट सम्पर्क का प्रसाद है। गोस्वामी विष्णुदास के विष्णुपद तथा रुक्मिणीमंगल के गेय पद ध्रुपद के पूर्वाधार के रूप में प्रवाहित होने लगे थे।

डूंगरेन्द्रसिंह

गेयपद-लेखन के अतिरिक्त हिन्दी प्रबन्धकाव्यों के भी विष्णुदास

---

* राहुल सांकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १९९।

† परमानन्द जैन शास्त्री महाकवि रइधू वर्णी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ३९८।

पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बहुत बड़े रचयिता हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी में प्रबन्धकाव्य लेखक नाम लेने को भी नहीं मिलते।

गोस्वामी विष्णुदास

यह एक दुखद घटना है कि यद्यपि विष्णुदास के ग्रन्थों का पता खोज रिपोर्ट में सन १६१७ में ही लग गया था, परन्तु इनका उल्लेख हिन्दी के किसी साहित्य-इतिहास में नहीं मिलता। विष्णुदास ने रुक्मिणीमंगल के गेय पदों के अतिरिक्त महाभारत कथा, स्वर्गारोहण कथा और मकरध्वज कथा ग्रंथ लिखे हैं। इनके तीन ग्रंथ दतिया के राजकीय पुस्तकालय में हैं और दो समग्र संग्रह ग्वालियर के श्री भा० रा० भालेराव जी के संग्रह में पड़े हैं। विष्णुदास के सम्बन्ध में कुछ उलटा सीधा उल्लेख मिश्रबन्धु-विनोद में अवश्य मिलता है। यद्यपि विष्णुदास गायक और कथावाचक मात्र थे, परन्तु समाज का इन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण किया था और उस समय उस भाषा का सूत्रपात कर दिया था जिसमें आगे हिन्दी में अनेक महाकाव्य लिखे गये। महाभारत कथा में विष्णुदास लिखते हैं—

विनसै धर्म किये पाखड्ड। विनसै नारि गेह परखड्ड॥
विनसै गांडु पढाये पाडे। विनसै खेतैं ज्वारी डाडे॥
विनसै नोच तनै उपजाऊ। विनसै सूत पुराने हारु॥
विनसै मागनौं जरै जु लाजै। विनसै जूझ होय विन साजै॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई। विनसै घर हार्न रन धरसी॥
विनसै राजा मंत्र जु हीनू। विनसै नटरु कला विनु हीनू॥
विनसै मन्दिर रावर पासा। विनसै काज पराई आसा॥
विनसै विद्या कुसित पढाई। विनसै सुन्दरि पर घर जाई॥
विनसै अति गति कीनै ब्याहू। विनसै अति लोभी नरनाहू॥
विनसै घृत हीनैं जु अगाहू। विनसै मदी चरै जटारु॥
विनसै सोनू लोह चढायें। विनसै सेव करै अनभाये॥
विनसै तिरिया पुरिख उदासी। विनसै भर्ताहि हसे विन हासी॥
विनसै रुख जो नदी विनारे। विनसै घर जु चलै अनुसारे॥

विनसै खेती आरसु कीजे। विनसै पुस्तक पानी भीजै ॥
विनसै करतु कहि जे कामू। विनसै लोभ व्यौहरै दामू ॥
विनसै देह जो राचै वेस्या। विनसै नेह मित्र परदेसा ॥
विनसै पोखर जामें काई। विनसै वूढो व्याहे नई ॥
विनसै कन्या हर हर हसयी। विनसै सुन्दरि परघर वसयी ॥
विनसै विप्र विन षटकर्मा। विनसै चोर प्रजा सें मर्मा ॥
विनसै पुत्र जो बाप लडावें। विनसै सेवक करि मन भावें ॥

स्पष्ट है कि यह सूक्ष्म निरीक्षण और प्रवाहमयी भाषा आगे के महाकाव्यों की सम्भावनाएँ अपने में छिपाए हुए थी। ऐसे ही उद्धरणों ने ग्वालियर के चतुरों की सराहना दक्षिण में वजही द्वारा करायी थी। विष्णुदास यह लिखना भूल गये कि यदि उनके काव्यों का स्मरण न रखा गया तो हिन्दी साहित्य के इतिहास भी विद्रूप हो जाएँगे, फिर तुलसी के मानस की प्रेरणा का मूल दिखाई देगा मलिक मुहम्मद जायसी के कलाम में। यदि राहुल जी के मतानुसार 'श्री शंभुना' में गोस्वामी तुलसीदास के स्वयंभू की रामायण पढ़ने से तात्पर्य है, तब यह भी सम्भव नहीं कि उनके द्वारा विष्णुदास का यह जीवनदर्शन अनदेखा रह गया हो।

डूंगरेन्द्रसिंह भी वीरमदेव के समान जैन मुनियों के आश्रयदाता थे। इनके समय में पद्मावतीपुरवाल रइधू* नामक एक बहुत बड़े अपभ्रंश के लेखक ग्वालियर में रहते थे। इसने जैनमत सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें पद्मचरित और हरिवंश भी हैं।

रइधू

रइधू-रचित चालीस के लगभग ग्रन्थों का उल्लेख हमें मिला है। रइधू का महत्त्व अनेक दृष्टियों से बहुत अधिक है। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का यह बहुत बड़ा लेखक है और अपभ्रंश की परम्परा का संभवत अन्तिम। उसकी रचनाएँ जैनमत

---

* परमानन्द जैन शास्त्री 'महाकवि रइधू', वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ३९८।

सम्बन्धी होते हुए भी उनमें तत्कालीन इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है और तोमरों के काल का अत्यन्त विशद चित्र सामने आता है। रइधू का साहित्य अप्रकाशित है, निश्चिन्तता यही है कि उसे जैनभंडार सुरक्षित रखे हुए हैं।

रइधू का ग्वालियर

रइधू ने ग्वालियर के तोमरों का जो वर्णन किया है, उसका उल्लेख यहाँ अनुचित न होगा। रइधू ने अपने तीन ग्रन्थ पार्श्वपुराण, पद्मचरित और सम्यक्त्वगुणनिधान में समकालीन ग्वालियर का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। पार्श्वपुराण में उसने लिखा है कि गोपाचल उस समय समृद्ध था और जनजीवन सुखशान्ति से पूर्ण था। नागरिक धर्मात्मा, परोपकारी और सज्जन थे। उस समय ग्वालियर का राजा डूंगरसिंह था, जो प्रसिद्ध तोमर कुल में उत्पन्न हुआ था। डूंगरसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंह या कीर्तिचन्द्र के राज्य में प्रजा में किसी प्रकार की अशान्ति न थी। पिता और पुत्र दोनों ही जैनधर्म में बड़ी आस्था रखते थे। यही कारण है कि उस समय ग्वालियर में चोर, डाकू, दुर्जन, पिशुन तथा नीच मनुष्य दिखाई नहीं देते थे, न कोई दीन-दुखी ही दिखाई देता था। वहाँ चौहट्टों पर सुन्दर बाजार बने थे, जिन पर वणिग्जन विविध वस्तुओं का व्यापार करते थे। नगर जिन-मन्दिरों से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा में निरत थे। सम्यक्त्वगुणनिधान की प्रशस्ति में रइधू ने ग्वालियर की जैनमंडली का सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि यहाँ देव, गुरु और शास्त्र के श्रद्धालु, विनयी, विचक्षण, गर्वरहित तथा धर्मानुरक्त मनुष्य रहते थे। यहाँ श्रावकजन सप्तव्यसनों से रहित द्वादश व्रतों का अनुष्ठान करते थे, जिन-महिमा और महोत्सव करने में प्रवीण थे और जिनसूत्ररूप रसायन को सुनने से तृप्त तथा चैतन्य-गुण-स्वरूप पवित्र आत्मा का अनुभव करते थे। ग्वालियर की नारियों का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि यहाँ नारीगण दृढ़शील से युक्त थीं और परपुरुषों को बान्धव-समान समझती थीं। रइधू स्वयं ग्वालियर के

देखने लगे थे। डूंगरेन्द्रसिंह के पश्चात जब वे सिंहासनासीन हुए, तब डूंगरेन्द्रसिंह की नीति को उनके द्वारा आगे बढ़ाया गया। रइधू तथा अन्य जैन मंडली उसी प्रकार समादृत रही। रइधू ने अपने ग्रंथ सम्यक्त्वकौमुदी को कीर्तिसिंह के राज्य-काल में पूरा किया। उसकी प्रशस्ति में रइधू ने लिखा है कि कीर्तिसिंह तोमर-कुल-कमलों को विकसित करने वाला सूर्य था और दुर्वार शत्रुओं के संग्राम में अतृप्त था तथा अपने पिता डूंगरसिंह के समान ही राज्यभार धारण करने में समर्थ था। सामन्तों ने उसे भारी अर्थ समर्पित किया था, उसकी यशरूपी लता लोक में व्याप्त हो रही थी और उस समय वह कालचक्रवर्ती था। डूगरेन्द्रसिंह ने कछवाहों से नरवर छीन लिया था। यह विस्तृत राज्य कीर्तिसिंह को मिला था। परन्तु उसके समय में ही मालवा, जौनपुर और दिल्ली से टक्करें प्रारम्भ होगयी थीं।

कीर्तिसिंह

तोमरों को कछवाहा सदा अपना शत्रु समझते रहे, क्योंकि उनका दावा ग्वालियर और नरवर पर था। परन्तु तोमरों का बुन्देलों और परमारों से बहुत घनिष्ट संबंध था। जबसे तोमर दिल्ली से आए थे, तभी से उनके विवाह-सम्बंध इनके साथ होने लगे थे। पद्मावती का राजा पुण्यपाल परमार इन ग्वालियर के तोमरों का भानजा था और सन् १२३१ ई० के आस-पास इस पुण्यपाल का विवाह वीरपाल बुन्देले की कन्या धर्मकुँवरि के साथ हुआ था। कीर्तिसिंह तोमर ने जौनपुर और दिल्ली के झगड़े में जौनपुर का पक्ष लिया और हुसैनशाह शर्की की सहायता की। परिणाम यह हुआ कि सन् १४७८ में बहलोल लोदी ने कीर्तिसिंह पर आक्रमण कर दिया। उस समय कीर्तिसिंह तोमर की सहायता गढ़कुंडार के मलखानसिंह बुन्देला ने की थी। वह तोमरों की ओर से बहलोल से लड़ा था। आगे जब रुद्रप्रतापसिंह बुन्देला अपनी राजधानी ओड़छा ले आए, तब भी वे तोमरों का साथ देकर सिकंदर और इब्राहीम लोदी से

बुन्देले, परमार और तोमर

लड़ते रहे। जब लोदियों ने नरवर पर गृद्धदृष्टि डाली और पद्मावती (पवाया) में तोमरों के विरुद्ध किलेबन्दी की तब रुद्रप्रतापसिंह बुन्देला ने अपने पुत्र चन्द्रहास को करहरा में जमा दिया, ताकि वह लोदियों को दुख देता रहे। यह करहरा कर्ण परमार ने लगभग सन् १०५० ई० में बसाया था।

कीर्तिसिंह तोमर यद्यपि जैन मुनियों को आश्रय देते थे, परन्तु वे जैन नहीं थे। इनके राज्यकाल में प्रसिद्ध पौराणिक पंडित त्रिविक्रम मिश्र ग्वालियर आगये थे। इस मिश्र परिवार का तोमरों से सम्बन्ध दिल्ली से ही था। इनके विषय में हम आगे लिखेंगे।

त्रिविक्रम मिश्र

इन्हीं कीर्तिसिंह का पुत्र भानुसिंह था, जो कृष्ण का परम भक्त था। अतएव रइधू जब ग्वालियर को नितान्त जैन-पुरी के रूप में चित्रित करता है, तब उसके कथन को सावधानी से देखना होगा। सम्भवत कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ही ग्वालियर में एक और प्रसिद्ध मिश्र परिवार आगया था, जिसके वंश मे आगे वीरसिंह देव बुन्देला की राजसभा में वीरमित्रोदय जैसा व्यवहार-ग्रंथ लिखने वाले मित्र मिश्र हुए।

सन् १४८१ मे कल्याणसिंह या कल्याणमल्ल तोमर गद्दी पर बैठा। कामशास्त्र का ग्रन्थ अनंगरंग बहुत प्रसिद्ध है।

कल्याणसिंह और अनंगरंग

उसके मराठी एवं अंग्रेजी के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। श्री भा० रा० भालेराव ने यह सिद्ध किया है* कि यह अनंगरंग इन्हीं कल्याणमल्ल ने लिखा था। हमारा विचार है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य व्यक्ति ने कल्याणमल्ल के नाम से लिख दिया है। अन्यथा उसमे इस प्रकार के उल्लेख न होते —

अस्यैव कौतुकनिमित्तमनंगरंग-
ग्रंथ विलासिजनवल्लभमातनोति।

---

* भा० रा० भालेराव कल्याणमल्ल और उनका अनंगरंग, भारती, अक्टूबर १९५५, पृष्ठ २६२।

श्रीमन्महाकविरशेषकलाविदग्ध
कल्याणमल्ल इति भूप-मुनिर्यशस्वी ॥

इस ग्रन्थ में किसी लोदी वशावतस अहमद नृपति के वशज लाड खा का भी उल्लेख है। ज्ञात यह होता है कि डूगरेन्द्रसिंह एव कीर्तिसिंह के वैभव ने कल्याणमल्ल को शिथिल कर दिया था और वे लोदियों से सन्धि करके आनन्द विलास के अपने राज्य के सात वर्ष (सन् १४७९-१४८६) चैन से बिता सके। कल्याणमल्ल के समय में कोई बड़ा सघर्ष पड़ौसी सुल्तानों से हुआ हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

मानसिंह तोमर मध्यकाल के अत्यन्त प्रतापी राजपुरुषों में गणनीय व्यक्ति हैं। अपने राज्यकाल के प्रारभ (सन् १४८७) से अपनी मृत्यु (सन् १५१६ ई०) तक उसको तलवार को चैन न मिला। उसने लोदियों से सधि रखने का प्रयास किया, परन्तु उसका राजदूत

मानसिंह तोमर

निहालसिंह उलटा झगड़ा बढ़ा आया। झगड़े की जड़ थी ही। लाहौर का सय्यद खा शेरवानी और धौलपुर के विनायक देव लोदियों से त्रस्त होकर मानसिंह की ही शरण में ग्वालियर आ जाते थे। मानसिंह को परिणामस्वरूप अपने समस्त राज्यकाल में लोदियों से प्रबल टक्कर लेनी पड़ी। ऐसे विषम काल में उसने सगीत, साहित्य, स्थापत्य एव चित्रकला को प्रोत्साहन देने का समय निकाला और प्रत्येक क्षेत्र म अपूर्व मान स्थापित किये। मानसिंह-कालीन सगीत तथा गेय पदों के सम्बन्ध म हम पहले विस्तार से लिख चुके हैं। मानसिंह द्वारा पोषित कलाएँ इस पुस्तक के विवेचन की सीमा से बाहर हैं। हम यहाँ मानसिंह तोमर-कालीन प्रबन्ध साहित्य लिखने वाले लेखकों पर तथा अन्य विद्वानों के विषय में ही सक्षिप्त मे प्रकाश डालेंगे। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि तोमर-कालीन ग्रथ और ग्रथकारों की खोज अभी पूर्ण नहीं हुई है। अभी जो कुछ ज्ञात हो सका है उससे ही सतोष करना पड़ेगा। परतु यह इतना अवश्य है कि

सोलहवीं शताब्दी के प्रबन्ध साहित्य की उचित पृष्ठ भूमि उसके आधार पर स्पष्ट दिखाई देती है।

अभी तक के ज्ञात प्रबन्धकाव्य लेखकों में डू गरेन्द्रसिंह-कालीन विष्णुदास के बाद अयोध्या निवासी मानिक कवि के अस्तित्व का पता चलता है। इसने सन् १४८९ ई० में बेतालपच्चीसी की कथा पद्य-बद्ध लिखी थी। उसके कुछ अंश ही हिन्दी की हस्तलिखित

मानिक कवि

ग्रंथों के खोजविवरण (सन् १९२१-२४) में प्राप्त हो सके हैं। मूलग्रन्थ की प्रतिलिपि की प्राप्ति का हमारा प्रयास सफल न होसका। परन्तु जो अंश अन्त में हमने परिशिष्ट में खोज विवरण से उद्धृत किये हैं, उनसे मानिक कवि के निवास स्थान, ग्रंथ की रचना का समय तथा कुछ अन्य मनोरंजक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। मानिक कवि अयोध्या का निवासी कायस्थ था। उसके पूर्वज भी कवि थे। वह ग्वालियर आया और मानसिंह के सिरदई खेमल से मिला खेमल उसे राना के पास ले गया, जहाँ उसे कोई अनूप कथा कहने का आदेश मिला। इस आदेश के पालन में बेतालपच्चीसी की कथा दोहा-चौपाईयों में लिखी गयी। राजनीति में जो तोमर जौनपुर के शर्की, लाहौर के खान,धौलपुर के राना को आश्रय देते थे, वे दूर-दूर के गुणी एवं कवियों को भी आश्रय देते थे। मानिक की भाषा अथवा उसकी कवित्वशक्ति के विषय में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर कुछ लिख सकना सम्भव नहीं,परन्तु इसकी भाषा यह अवश्य प्रकट करती है कि अवध में भी उस काल में मान्य काव्यभाषा मध्यदेश की भाषा ही थी। जब अयोध्या के कवि इसमें काव्यरचना करते थे, तब उसमें अवध के कुछ स्थानीय प्रयोग आना स्वाभाविक था।

सन् १५०० ईसवी का थेघनाथकृत गीता का पद्यानुवाद हमें नागरी प्रचारिणी सभा काशी के अनुग्रह से संपूर्ण प्राप्त हो गया है। यह ग्वालियर का तिथियुक्त एवं संपूर्ण प्रथम प्राप्तग्रन्थ है। इस अनुवाद में थेघनाथ ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। केवल उसके विषय में यह

ज्ञात होता है कि यह किसी रामदास का शिष्य था। यह गीता का अनुवाद उसने भानुसिंह के आदेश पर किया था। यह भानुसिंह तोमर राना कीर्तिसिंह का पुत्र था और मानसिंह का अत्यन्त विश्वासपात्र था। ज्ञात यह होता है कि तोमरों में बड़े राजकुमार को ही गद्दी देने की प्रथा नहीं थी। वीरसिंह तोमर के बाद जिन उद्धरणदेव का राज्य हुआ, वे वीर सिंह के भाई थे। वीरम या विक्रम तोमर उद्धरणदेव के कौन थे, यह ज्ञात नहीं, परन्तु उनके बाद जो डूगरसिंह गद्दी पर बैठे, वे गणपति तोमर के पुत्र थे। यह गणपति वीरम के कौन थे, यह ज्ञात नहीं होता। कीर्तिसिंह अवश्य डूगरन्द्र सिंह के पुत्र थे। कल्याणमल्ल कीर्तिसिंह के कौन थे तथा मानसिंह का कल्याणमल्ल से क्या नाता था, यह भी ज्ञात नहीं। कीर्तिसिंह के पुत्र ये भानुसिंह मानसिंह के कौन थे, यह थेघनाथ ने नहीं लिखा, केवल यह लिखा है–'कीरतसिंह नृपति को पूत'। परन्तु यह सब विशुद्ध इतिहास का विषय है। यहाँ तो हमारा सम्बन्ध इस बात से है कि इन भानुसिंह ने थेघनाथ से कहा कि इस नाशवान ससार में केवल कृष्ण की भक्ति ही श्रेयस्कर है, अतएव वह उसे गीता का ज्ञान सुनावे। उसके आदेश के पालन में थेघनाथ ने यह गीता का अनुवाद किया। इस अनुवाद के कुछ अश को हम अन्त में परिशिष्ट में दे रहे हैं। यह गीता का अक्षरश अनुवाद न होकर भावानुवाद मात्र है।

थेघनाथ और भानुसिंह

मानिक और थेघनाथ की रचनाओं से तोमरों की एक मनोरंजक साहित्यिक प्रथा पर प्रकाश पड़ता है जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। मानिक ने लिखा है —

काव्य रचना के लिए बीड़ा

> गढ ग्वालीयर थानु अति भलौ। मानुसिंघ तोवरु जा घलौ ॥
> सघई खमल बीरा लीया। मानिक कवि कर जोरें दीयो ॥
> माहि सुनावहु कथा अनूप। ज्यो बताल किए बहुरूप ॥

मानसिंह से बीड़ा लेकर सिंघई खेमल ने आदर के साथ उसे मानिक कवि को दिया। इसी प्रकार थेघनाथ ने लिखा है —

तिहि तम्बोर यंधू कहुँ दया।
अति हित कर सो पूछत ठयो॥

युद्धों के लिए अथवा सकटपूर्ण कार्यों के सपादनार्थ बीडा लेने के प्रसग तो बहुत सुने गये हैं, परन्तु काव्य रचना के लिए बीडा या ताम्बूल लेने की प्रथा इन मानसिंहकालीन कवियों में ही मिली है, मानो भारतीय साहित्य की भावी समृद्धि के लिए समर्थ आधार भूमि प्रस्तुत करने की इच्छा उस काल के इन सास्कृतिक निर्माताओं के हृदय मे युद्धकालीन सकट की तीव्रता के साथ हिलोरें ले रही थी और साहित्य-सृजन के लिए इस प्रकार के बीडे लिये गये दिये जा रहे थे।

कवि एव सगीतज्ञों की मानसभा की झाँकी हमने देख ली। शूरवीर और शिल्पियों का उल्लेख यहाँ अप्रासगिक होगा। यहाँ हम उन विद्वानों का उल्लेख करना उचित समझते हैं जिनसे उस काल की विचारधारा प्रभावित होती थी।

मानसिंह की विद्वत्सभा

ऊपर हम केशवदास के पूर्वज शिरोमणि मिश्र एव हरिनाथ का उल्लेख कर आए हैं। इनके द्वारा शास्त्रीय पाण्डित्य का प्रसाद ग्वालियर को मिला था। दिल्ली के तोमरों से लेकर अलाउद्दीन खिलजी और उसके बाद ग्वालियर के तोमरों तक यह सनाढ्य परिवार किस प्रकार आया और किस प्रकार यह ग्वालियर से ओडछा पहुँचा इसका विवरण केशवदास ने कविप्रिया में दिया है —

दो मिश्र परिवार

ब्रह्मा जू के चित्त तें, प्रगट भये सनकादि।
उपज तिनके चित्त तें, सब सनौढिया आदि॥
परशुराम भृगुनन्द तब उत्तम विप्र विचारि।
द्ये बहत्तर ग्राम तिन, तिनके पायँ पखारि॥
जग पावन वैकुंठपति, रामचन्द्र यह नाम।
मथुरा मण्डल में दिये, तिन्हें सात सौ ग्राम॥

सोमवश यदुकुल-कलस, त्रिभुवन-पाल नरेस।
फेरि दये कलिकाल पुर, तेई तिन्हें सुदेस॥
कुम्भवार उद्देसकुल, प्रगटे तिनके बस।
तिनके देवानन्द सुत, उपजे कुल अवतंस॥
तिनके सुत जयदेव जग, पाये पृथिवीराज।
तिनके दिनकर सुकुल सुत, प्रगटे पण्डितराज॥
दिल्लीपति अलाउदी, कीन्ही कृपा अपार।
तीरथ गया समेत जिन, अकर करे बहुबार॥
गया गदाधर सुत भये, तिनके आनँदकन्द।
जयानन्द तिनके भये, विद्यायुत जगबन्द॥
भये त्रिविक्रम मिश्र तब, तिनके पण्डितराय।
गोपाचलगढ दुर्गपति तिनके पूजे पाय॥

सतयुग के परशुराम भार्गव अथवा त्रेता के रामचन्द्र ने केशव के पूर्वजों के लिए जो कुछ किया, वह हमारी सीमा के बाहर है। 'सोमवंश-यदुकुल-कलस त्रिभुवन पाल' अवश्य दिल्ली के तोमर राजा थे। उनके द्वारा मथुरा-मंडल में सात सौ ग्राम केशव के पूर्वजों को दिये गये थे। पृथ्वीराज चौहान की भी इन पर कृपा रही। जयदेव पंडित को चौहान पृथ्वीराज द्वारा वृत्ति मिली। दिनकर पंडितराज का मान अलाउद्दीन खिलजी ने भी किया। आखिर त्रिविक्रम मिश्र को डूँगरेन्द्रसिंह अथवा कीर्तिसिंह तोमर के दरबार में स्थान प्राप्त हुआ। पीछे हम त्रिविक्रम मिश्र से हरिनाथ तक का उद्धरण* दे चुके हैं। तोमरों के प्रताप के अस्त होने पर आगे—

पुत्र भये हरिनाथ के, कृष्णदत्त शुभ वेष।
सभा शाह सग्राम की, जीती गढ़ी अशेष॥
तिनको वृत्ति पुराण की, दीन्हीं राजा रुद्र।
तिनके काशीनाथ सुत, सोभे बुद्धि-समुद्र॥

---

* पीछे पृष्ठ ६७ देखिए।

जिनको मधुकरसाह नृप, बहुत कर्‌यो सनमान ।
तिनके सुत बलभद्र सुभ, प्रगटे बुद्धि-निधान ॥
बालहि तें मधुसाह नृप, जिनपै सुनै पुरान ।
तिनके सोदर द्वै भये, केशवदास, कल्यान ॥

इस प्रकार इनका यह परिवार वेतवातीर पर ओड़छा में पहुँचा। संक्षेप में यही प्रवाह है हिन्दी के विकास का। मध्यदेश की यह भाषा इसी कालचक्र से इसी मार्ग पर दिल्ली से ग्वालियर होती हुई ओड़छा पहुँच कर पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त हुई।

वीरमित्रोदय और आनन्दघन चम्पू के रचयिता मित्र मिश्र के पूर्वज भी ग्वालियर से ओड़छा गये थे, यह उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

हमने अपनी पुस्तक 'मानसिंह और मानकुतूहल' मे यह लिखा था कि मानसिंह अपनी राजसभा में मथुरा के विजयराम मथुरा के चतुर्वेदी को लाए थे। परन्तु वे विजयराम को नहीं, उनके पूर्वज कल्याणकर को ग्वालियर लाए थे। गोविन्ददास ने अपने वैष्णवप्रपत्तिविभव में लिखा है†:—

अनाचार आचार युत, साधु असाधहु होई।
अज्ञानी ज्ञानी सुभ्रुवि, मम तनु माथुर जोई ॥
यह लखि लाए मान नृप, मथुरा ते करि प्रीति ।
दियो वासु गिरि उपरि लखि,वेद सुमृत ऋषि नीति ।।
वर्षा ऋतु झरना विविध नृत्यत मत्त मयूर ।
विगत पंक रह भूमि जहँ, स्वच्छ शिला बहु पूर ॥
राजत वापी कूप बहु, उपवन सुभ आराम ।
मन्दिर सुन्दर नृप सदृश, षटऋतु के विश्राम ॥

---

† यह मूल हस्तलिखित ग्रन्थ इसी विद्वान परिवार के वंशज श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' के पास है।

श्री कल्याणकर पुत्र पुनि, श्रीमन कंठ सुवेश।
तिनसुत गोवर्धन विदित, पुनि कुलमनि विप्रेश॥
विजयराम सुत खड्गमनि, उत्तम नाम प्रकाश।
विरच्यो प्रातम स्वधर्म लखि, वेद सुमृत इतिहास॥
प्रकृति पुरुष दोउ पर अपर, कह्यो विष्णु की देह।
जाते वैष्णव धर्म बिनु, नहीं अन्य नर एह॥
रन्ध्र मिथुन वसु चन्द्र बुध शुक्ल सप्तमी लेख।
श्रावण रवि पूरण भई, गत नक्षत्र विशेष॥
तुर्य तुर्य वसु चन्द्र कवि, कुम्भकर्ण तम पक्ष।
अनुराधा तिथि सप्तमी, जन्मनाथ मुनि स्वक्ष॥

जो चतुर्वेदी मानसिंह द्वारा ग्वालियर में लाए गये, उनका एक पुत्र लोदियों से लड़ता हुआ मारा गया और उनकी पत्नी शंकरपुर में सती हुई तथा अभी भी उस सती का स्थान वहाँ है। अत: ये सन् १५०० के पूर्व ग्वालियर आ गये होंगे। गोविन्ददास ने यह ग्रन्थ सन् १७६३ में पूरा किया और उनके और कल्याणकर के बीच चार पीढ़ियाँ इस उद्धरण में हैं। मथुरा का यह चतुर्वेदी परिवार मानसिंह द्वारा सादर ग्वालियर लाया गया और यहाँ से इटावा चला गया।

मानसिंह के पूर्व नयचन्द्रसूरि, यशकीर्त्ति, गुणकीर्त्ति, रइधू, विष्णुदास, त्रिविक्रम मिश्र, पद्मनाभ, तथा मानसिंह के समय में रामदास, थेघनाथ, शिरोमणि मिश्र, हरिनाथ, मित्र मिश्र और गोविन्ददास के पूर्वज तथा अनेक अज्ञात लेखक एक ऐसे युग का निर्माण कर गये हैं जिसका इतिहास हमें यद्यपि आज अत्यन्त अस्पष्ट रूप में ही ज्ञात है, परन्तु जो हमें आज भी इतना आलोक अवश्य दे रहा है कि हम उस आधार को समझ सकें जिसके कारण आगे अनेक शताब्दियों तक हिन्दी का नाम ग्वालियरी भाषा रहा। जायसी, तुलसी और केशव के प्रबन्धकाव्य अचानक उद्भूत परम्परा-रहित रचनाएँ नहीं हैं, उनके पीछे ग्वालियर की एक-दो शताब्दियों की शब्द-साधना का और स्वयंभू से लेकर तोमरों के

राज्यकाल के अन्त तक की साहित्य-साधना का प्रसाद है। इन प्रबन्ध-काव्यों को पल्लवित और पुष्पित करने वाली सामग्री की खोज कहीं दिल्ली और नर्मदा के बीच अथवा और भी छोटे क्षेत्र चम्बल और बेतवा के बीच की जाने पर ही वास्तविकता हाथ आ सकेगी।

अविच्छिन्न परम्परा

तोमरों के पश्चात भी ग्वालियर ने अविच्छिन्न रूप से हिन्दी के रूप निर्माण और उसकी समृद्धि में अपना योगदान किया। ग्वालियर और बुन्देलखंड सदा अत्यन्त प्रतिभाशाली साहित्यकारों को जन्म देते रहे हैं। महाकवि केशवदास और बिहारीलाल जैसों की तो बात ही अलग है, वे अपनी ओर बरबस ध्यान खींच ही लेते हैं। इनके अतिरिक्त भी यहाँ अनेक ऐसे रससिद्ध कवि हुए हैं जिनके कारण हिन्दी का मस्तक गौरव से ऊँचा हुआ है।

ओड़छा तो ग्वालियर के तोमरों के पश्चात् साहित्य का केन्द्र ही बन गया था। वहाँ के राजा मधुकरशाह और छत्रसाल अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के कवि थे और कवियों के आश्रयदाता थे। भूषण को यहाँ पर ही चकित होकर कहना पड़ा था "शिवा को सराहूं कै सराहूं छत्रसाल को"। महाराज छत्रसाल बुन्देला कभी-कभी पत्रव्यवहार तक कविता में करते थे।

ओड्छा

अक्षरअनन्य से जब उन्होंने मिलने की इच्छा प्रकट की, तो उस अलमस्त फ़कीर ने उनसे कुछ शंकाओं के उत्तर माँगे। अक्षरअनन्य ने लिखा :—

> धर्म की टेक तुम्हारे बँधी नृप दूसरि बात कहैं दुख पावत।
> टेक न राखत हैं हम काहु की जैसे को तैसो प्रमाण बतावत ॥
> मानै कोऊ (जु) भली या बुरी नहिं आसरो काहु को चित्त में ल्यावत।
> टेक विवेक तें बीच बडो हमको किहि कारण राज बुलावत ॥ १ ॥
> जो धरिए हठ टेक उपासन तौ चरचा में (पुनि) चित्त न दीजे।
> जो चरचा में राखिए चित्त तौ ज्ञान विषे हठ टेक न कीजे ॥
> जो भरिए उर ज्ञान विचार तौ अक्षर सार क्रिया गुण लीजे।
> अक्षर में क्षर है क्षर है क्षर अक्षर अक्षरातीत कहीजे ॥ २ ॥

प्राणी सबै क्षर रूप यहावत अक्षर ब्रह्म को नाम प्रमानी।
निदत स्वप्न सुषुप्ती जागृति ब्रह्म तुरीय दशा ठहरानी ॥
क्या तिहि में सुपनो ब्रह्म भासति छत्र नरेश विचक्षण ज्ञानी।
अक्षर है कि अनक्षर है हमको लिखि भेजवो एक जवानी ॥ ३ ॥
छत्र नरेश विचित्र महा अरु सगति धामी बडे बडे ज्ञानी।
ध्यान अखड स्वरूप की रासत भाषत पूरण ब्रह्म अमानी ॥
क्यो शिशुपाल की ज्योति गई उततें फिर कान्ह में आय समानी।
खडित है कि अखडित है हमको लिखि भेजवो एक जवानी ॥ ४ ॥
नारि तें हेत नही नर रूप नही नर तें पुन नारि बखानी।
जाति नही पलटै सुपनै मरेहू तें भूत चुरैल बखानी ॥
क्यो सखियाँ निज धाम की राजि भई नर रूप सो जाति हिरानी।
वेद सही किधो वाद सही हमको लिखि भेजवो एक जवानी ॥ ५ ॥
जाति नही पलटै नर नारि की क्यो सखियाँ नर रूप बखानी।
जो नर रूप भयो तो भयो पुरषोत्तम सो ऋतु कैसे के मानी ॥
जो पुरुषोतम सो ऋतु होय तो इनै कित नारिन के रस सानी।
यह द्विविधा में प्रमाण नही हमको लिख भेजवो एक जवानी ॥ ६ ॥

इन शंकाओं का समाधान महाराज छत्रसाल ने कविता में ही किया :—

दूर करहु द्विविधा दिल सो अरु ब्रह्म स्वरूप को रूप बखानो।
जागृति सुप्ति सुषुप्ति हु के तजि को तुरिया उनको पहिचानो ॥
तीनहू श्रेष्ठ कहे सब वेद सो पूर्व ऋषी हमहू ठहरानो।
कारण ज्यो भस्मासुर तारण कामिनि सो प्रभु आप दिखानो ॥ १ ॥
वाद भयो पुरुषोत्तम सो अरु नेह बढावन को उर आनी।
ब्रह्म प्रताप तें यो पलटै तनु ज्यो पलटै सब रग में पानी ॥
जो नर नारि कहै हमको अजहूँ तिनकी मति जाति हिरानी।
भूत चुरैल अहैं सब झूठ महा हमसो सुन लीजिए एक जवानी ॥ २ ॥

एक समय पतिनी पति सो हठ पूछी यही निज धाम की बानी ।
कही नहीं करि देन कही भए सोरहु अग कला के निधानी ॥
इत तें शिशुपाल की ज्योति गई उत तें फिर कृष्ण में आनि समानी ।
खंडित ऐसे अखण्डित हैं हम सो सुनि लीजिए एक जबानी ॥ ३ ॥
राखत हैं हम टेक उपासन बात यथारथ वेद बखानी ।
पोवत है चरचा करि अमृत बात विलासन के रस सानी ॥

छत्रसाल का कृष्णभक्ति का रूप दूसरा ही था। वे कृष्णभक्त थे अवश्य, परन्तु उनका दुष्टदलन रूप ही उन्हें अधिक आकर्षित करता था। वे कृष्ण के इसी रूप पर अनुरक्त थे :—

तुम घनश्याम जन याचक मयूरगण तुम पयोद स्वाती हम चातक तुम्हारे हैं।
तुम हौ कृष्णचन्द्र मेरे लोचन चकोर तुम जग तारे हम छतारे कहि उचारे हैं॥
मीत मित्र जाके तुम चक्रवाक राखे कर ब्रजवसुधा के गोप गोपी जीववारे हैं।
तुम गिरधारी हम तुम्हारे व्रतधारी तुम दनुज प्रहारे हम यवन प्रहारे हैं॥

जब बुन्देलों पर मुगलों ने भयंकर आक्रमण किया, तब छत्रसाल ने बाजीराव पेशवा को केवल एक दोहा लिख कर भेजा था :—

जो गति ग्राह गजेन्द्र की सो गति भई है आय ।
बाजी जात बुन्देल की राखो बाजी राय ॥

इस दोहे ने क्या काम किया था, यह इतिहास जानता है। बुन्देलों के आश्रय में जिस विशाल साहित्य का निर्माण हुआ, उसकी विस्तृत सारिणी देना यहाँ अभीष्ट नहीं। यहाँ केवल गोरेलाल के छत्रप्रकाश का उल्लेख हम इस आशय से करते हैं कि हिन्दी में इतिहास-लेखन का जो नितान्त अभाव देखते हैं, वे इस ग्रन्थ को देखें और साथ ही केशवदास के ग्रन्थों का श्रद्धापूर्वक मनन करें। इस काल का वास्तविक इतिहास इन बुन्देल कवियों की रचनाओं में भरा मिलेगा।

इतिहास-काव्य — गोरेलाल

ग्वालियर में भी इसी श्रेणी का एक और इतिहासकार हुआ है। सन् १६८५ में खड़गसेन सनाढ्य ने ग्वालियरनामा अथवा गोपाचल

आख्यान लिखा था। हमारे वयोवृद्ध मित्र श्री भा रा० भालेराव इसे प्रकाशित कर रहे हैं। इस ग्रन्थ में खड्गसेन ने ग्वालियर गढ़ के निर्माणकाल से अपने समकालीन यान्शाह शाहजहाँ तक के समय का सुन्दर और प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। अतिरिक्त नियामी गुलाब कवि का करहिया का रायसा*, जोगीदास का दलपतराय रायसा, किसुनेस का सत्रजीत रायसा, श्रीधर का पारीछत रायसा प्रधान आनन्दसिंह कुडरा का बाघाइट रायसा, कल्याणसिंह कुडरा का झाँसी का रायसा†, जदुनाथ का खडेराय रायसा‡ तथा इसी प्रकार के अनेक ग्रन्थ तत्कालीन इतिहास के प्रामाणिक काव्य ग्रन्थ हैं।

खड्गसेन

इस काल में ग्वालियर और बुन्देलखण्ड अपने इन काव्य और इतिहास ग्रन्थों के अतिरिक्त रीति-ग्रन्थों की रचना में भारत विख्यात हुआ था। न जाने किस लहर में आचार्य शुक्ल¶ ने यह लिख दिया "रीति ग्रन्थों का विकास अधिकतर अवध में हुआ।" आचार्य शुक्ल के विचार में यह लिखते समय सभवत प्रतापगढ़ के भिखारीदास अथवा अन्य कोई दो एक कवि रहे होंगे। सवत १४६८ में 'हिततरंगिनी' लिखने वाले कृपाराम, ओड़छे के बलभद्र मिश्र, रसिकप्रिया और कविप्रिया के प्रणेता केशवदास, मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह, ग्वालियर के बिहारीलाल बूँदी राज्य के

रीति-ग्रन्थ

---

* उपेन्द्रशरण शर्मा करहिया का रायसा नागरी प्रचारिणी पत्रिका सवत १९८९ पृष्ठ २७१।

† हरिमोहनलाल श्रीवास्तव बुन्देलखण्डी के वैभव ग्रन्थ, विन्ध्य भारती मई १९५५ पृष्ठ २१।

‡ यह मूल ग्रन्थ ग्वालियर के सरदार आनन्दराव भाऊ साहब फालके के सग्रह में है।

¶ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २६५।

आश्रित मतिराम, छत्रपाल से समादृत भूषण, मम्मट के काव्यप्रकाश के अनुवादक मथुरा के कुलपति मिश्र, इटावा के देव जैसे अनेक महान रीति-कवियों की ओर भी यदि आचार्य का ध्यान होता तो वे यह कथन कदापि न करते।

रस-रीति की शिक्षा मध्यकाल मे कहाँ से ली जाती थी इसके उदाहरण के लिए हम ग्वालियर के महाकविराय सुन्दरदास का उल्लेख करेंगे। ईसवी सन् १६३१ में सुन्दरकवि ने सुन्दरशृंगार लिखा। इसकी अनेक प्रतिया उपलब्ध होती हैं। ई० सन् १६७८ में इसकी माँग माडू में हुई और वहाँ रामदास और ताराचन्द के पठनार्थ भट्ट यादव ने उसकी प्रति तयार की। करौली के सेवाराम ने भी उसकी प्रतिलिपि की*। परन्तु यह सब मध्यदेश के आस-पास के उदाहरण हैं। सुदूर कच्छ में इस ग्रन्थ की टीका लिखी गयी†।

सुन्दरदास

कच्छ के महाराव लखपत ने मध्यदेश की टकसाली हिन्दी सिखाने के लिए एक विद्यालय खोला था जिसमें मारवाड, गुजरात आदि प्रदेशों से शिक्षार्थी जाते थे। वहाँ रस-रीति के अध्ययन के लिए महाकविराय सुन्दर का सुन्दरशृंगार पढाया जाता था। लखपत ने कनककुशल से उसकी टीका भी लिखवाई थी। श्री भा० रा० भालेराव से हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि इन्हीं लखपत ने केशवदास की रसिकप्रिया की टीका भी करवाई थी जो उनके समह में है। लखपत का यह कार्य तो यही कहता है कि उसके प्रदेश में ग्वालियरी हिन्दी—बुन्देलखण्ड की भाषा—ही टकसाली समझी जाती थी और रीति-ग्रन्थों के विकास का भी यहीं का रूप प्रामाणिक माना जाता था।

कच्छ का लखपत

---

* ये प्रतियाँ लेखक के संग्रह में हैं।

† अगरचन्द नाहटा सुन्दरशृंगार की भाषा, भारती, अप्रैल १९५५, पृष्ठ ३१२।

इस पुस्तक में प्रसंग भाषा के नाम का है। जैसा हम ऊपर अनेक बार लिख चुके हैं मध्यदेशीय भाषा के लिए प्रयुक्त व्रजभाषा नाम से उसके रूप का सम्बन्ध नहीं। उसके रूप का निर्माण व्रजमंडल में नहीं हुआ, बुन्देलखण्ड में हुआ है और उसके विकास में समस्त भारत ने योग दिया है। व्रजभाषा इस काव्य-भाषा का केवल रूढ़िगत नाममात्र है। उस नाम के सहारे मध्यदेशीय काव्यभाषा का व्रज की सीमा की बोली तक अर्थ निकालना केवल भ्रम में पड़ना है। हम यहाँ अवध के रीति-ग्रन्थकार भिखारीदास का प्रमाण देना उचित समझते हैं। इस काव्यभाषा के विषय में उसने स्पष्ट लिखा है :—

काव्यभाषा का रूप

सूर, केसव, मडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिन्तामणि, मतिराम, भूपन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधा,
नीलकठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौ बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानो,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सो जानिए॥

इन सब कवियों के नाम-धाम सर्वविदित हैं। इनमें से कितने वार्त्ता के व्रज में रहे-बसे हैं, इस पर विचार करने से हमारा निवेदन स्पष्ट हो जाता है। भिखारीदास ने ही इसे और भी स्पष्ट कर दिया है। व्रजभाषा केवल व्रजवास तक ही सीमित है ही नहीं, उसके रूप भी अत्यन्त व्यापक हैं :—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज, मागधी मिलै अमर नाग यवन भाषानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

यह सब तथ्य हमने बीसवीं शताब्दी के पूर्व के ही प्रस्तुत किये हैं। हिन्दी के निर्माण में इतना बड़ा योग देने वाला यह प्रदेश केवल एक नाम के भ्रम के कारण अपने प्राप्य गौरव से वंचित होगया। महाप्रभु और गुसाईं जी महाराज के अभिशाप से अभिशप्त इस प्रदेश की इस देश को इतनी बड़ी देन, मध्यदेश की भाषा – हिन्दी – के निर्माणकार्य को आज के इतिहासज्ञ ने भुला दिया। परन्तु यह बात तो पाँच-छह सौ वर्ष पुरानी है। अभी पन्द्रह-बीस वर्ष में ही क्या कुछ नहीं भुलाया गया। क्या आज इस बात पर कोई एकाएक विश्वास करेगा कि भारत के संविधान में प्रतिष्ठित 'राजभाषा' हिन्दी का रूप-निर्माण भी इसी गोपाचल की छाया में हुआ है? परन्तु यह है सत्य कि संविधान की हिन्दी बीसवीं शताब्दी की ग्वालियरी हिन्दी है। 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग यहाँ जानबूझ कर किया गया है। लोक-भाषा के रूप में तो उसका निर्माण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही हो रहा था, अथवा और भी पहले दक्खिन में हो चला था, परन्तु राजनियमों और शासनतंत्र में व्यवहृत राजभाषा के रूप की चर्चा ही यहाँ अभिप्रेत है। सन् १६४० ई० में जब हिन्दी के भारत की स्वीकृत राष्ट्रभाषा बनने की कल्पना एक सुदूर स्वप्न मात्र थी, तब गोपाद्रि की छाया में बैठ कर पैंतीस लाख जनसमूह पर प्रभाव डालने वाले राजनियम इस प्रकार की भाषा में लिखे जा रहे थे*:—

संविधान की हिन्दी

"७ किसी प्रस्ताव को वचन में परिणत करने के लिए यह अनिवार्य होगा कि स्वीकृति—

स्वीकृति पूर्ण होना चाहिए

(१) पूर्ण और निरपेक्ष हो।

(२) किसी साधारण तथा यथोचित रीति से व्यक्त की जाय, जब

* ग्वालियर राज्य के अनुबन्ध विधान की धाराएँ।

तक कि प्रस्ताव में स्वीकार करने की कोई रीति नियत न कर दी गयी हो। यदि प्रस्ताव में ऐसी रीति नियत कर दी गयी हो जिसके अनुसार वह स्वीकार की जाय और स्वीकृति ऐसी रीति के अनुसार न दी जाय तो प्रस्ताव करने वाले को अधिकार होगा कि स्वीकृति का संवहन हो जाने के पश्चात वह यथोचित समय के भीतर यह आग्रह करे कि उसका प्रस्ताव नियत रीति के अनुसार ही स्वीकार किया जाय और किसी रूप में नहीं, परन्तु यदि ऐसा करने में असफल रहे तो वह स्वीकृति को स्वीकार करता है।"

प्रतिबन्धों का निष्पादन करने अथवा प्रतिफल पाने से स्वीकृति

"८. किसी प्रस्ताव के प्रतिबन्धों का निष्पादन अथवा किसी ऐसे पारस्परिक वचन के विषय में जो किसी प्रस्ताव के साथ दिया जाय, किसी प्रतिफल को स्वीकृति, उस प्रस्ताव की स्वीकृति होती है।"

सन् १९४१ में यह भाषा ग्वालियर राज्य के भूतपूर्व नरेश के मुख से इस रूप में निःसृत कराई गयी थी* :—

"उच्चतम आशय से प्रेरित होकर तथा अत्यन्त उदात्त आदर्शों से अनुप्राणित होकर हमने शासन सुधार में एक ऐसी नीति को प्रारम्भ किया है जो हमारे राज्य के नवनिर्मित क्षेत्र में बोए हुए प्रतिनिधि संस्थाओं के बीज को अंकुरित और पोषित करने में समर्थ हो। अपने राजवंश की परम्परागत नीति में अचल श्रद्धा के सहित हम एक बार पुन घोषित करते हैं कि हमारा राज्यप्रबन्ध हमारी प्रजा की विकासशील राजनीतिक चेतना का प्रतिव्यंजक हो और एक समय आवे जब हमारी प्रजा अपने आर्थिक एवं राजनीतिक उत्कर्ष के अनुसार, शांतिपूर्ण तथा वैधानिक उपायों द्वारा प्राकृतिक और सजीव वृद्धि की स्वस्थ रीति से अपनी वैध आकांक्षाओं का प्रगतिशील सम्पादन करे।

* विजयादशमी, ३० सितम्बर, १९४१ की ग्वालियर नरेश की उद्घोषणा, उसी दिन के शासन-आज्ञा-पत्र में प्रकाशित।

उपसंहार

अभी तक के प्राप्त निष्कर्ष

मध्यकालीन हिंदी को नाम कुछ दे लीजिए, उसे ग्वालियरी भाषा कह लीजिए चाहे ब्रजभाषा, परन्तु यदि ऐतिहासिक परम्पराओं को विस्मृत कर दिया जाय तब बड़े बड़े विचित्र परिणाम दिखलाई देते हैं। हमारा विश्वास है कि पिछले पृष्ठों को पढ़ने के पश्चात इस बात से कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति सहमत हो सकेगा कि मध्यदेश ने मध्यकालीन हिन्दी को जन्म दिया, सोलहवीं शताब्दी के पहले आज के बुन्देलखण्ड और ग्वालियर ने उसे परिष्कृत काव्यभाषा का रूप दिया, वह अनेक शताब्दियों तक ग्वालियरी भाषा नाम लिये रही, बिना राई रत्ती रूपभेद किये इसी भाषा को कभी ब्रजभाषा संज्ञा दी गयी और ब्रजमंडल में सीमित बोली के रूप में उसे कभी काव्यभाषा स्वीकार नहीं किया गया, साथ ही यह भी कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व किसी सांस्कृतिक विकास का विवेचन मध्य-देश का समग्र रूप मस्तिष्क में रखे बिना नहीं किया जा सकता। जहाँ उसके बुन्देलखण्ड, कन्नौज, मारवाड़, मालवा आदि टुकड़े किये वहाँ जो हाथ आएगा वह बोलियों का विवेचन होगा, किसी परिनिष्ठित काव्यभाषा का विवेचन वह हो नहीं सकता।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की स्थापनाएँ

इसका एक ज्वलन्त उदाहरण डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का लब्धप्रतिष्ट ग्रन्थ 'ब्रजभाषा' है। यह ग्रन्थ सन् १९३५ में पेरिस विश्वविद्यालय के लिए थीसिस के रूप में लिखा गया था और अब सन् १९५४ में हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें ब्रजभाषा के क्षेत्र के मानचित्र में से ग्वालियर और बुन्देलखण्ड निकाल दिये गये हैं। निश्चित ही डॉ० वर्मा किसी बोली का अध्ययन नहीं कर रहे थे क्योंकि उन्होंने ब्रजभाषा के उदाहरणों के लिए केशवदास, नाभादास, बिहारी, भूषण, मतिराम,

गोरेलाल, भिखारीदास आदि को भी चुना है। इन कवियों ने किसी बोली में रचनाएँ नहीं लिखीं। इससे स्पष्ट है कि उनका यह 'ब्रजभाषा' ग्रन्थ मध्यकाल की परिनिष्ठित काव्य-भाषा का विवेचन है। परन्तु इस काव्य-भाषा के विकास का इतिहास, मध्यदेश की परम्परा और उसके रूप को भुला देने के कारण इस ग्रन्थ में कुछ अद्भुत रूप में सामने आया है। ग्वालियर सहित बुन्देलखण्ड तो इस काव्यभाषा के क्षेत्र से बाहर निकाल ही दिया गया, डॉ० वर्मा ने कन्नौजी बोली को ब्रजभाषा का अंग मान लिया तथा बुन्देली को 'ब्रजभाषा' की दक्षिणी उपबोली के रूप में ग्रहण किया। वे लिखते हैं, "हिन्दी बोलियों में बुन्देली ही ब्रज के सबसे निकट है। वास्तव में बुन्देली को ब्रज का दक्षिणी रूप कहा जा सकता है। दोनों में अन्तर शब्द-रचना की अपेक्षा ध्वनियों में अधिक है। वास्तव में बुन्देली को हिन्दी की अलग बोली न मान कर ब्रज की दक्षिणी उपबोली कहा जा सकता है*।" निश्चय ही यह उक्ति उस काव्यभाषा के विषय में नहीं हो सकती, जिसमें ऊपर लिखे कवियों ने रचना की है, यह किसी 'बोली' का विवेचन भले ही हो।

उनकी उलटी गगा

एक अन्य स्थल पर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, "मध्यकाल में बुन्देलखण्ड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है, किन्तु यहाँ होने वाले कवियों ने ब्रजभाषा ही में कविता की है, यद्यपि, इनकी भाषा पर बुन्देली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुन्देली बोली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज, कन्नौजी, तथा बुन्देली एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं†।" आगे फिर लिखा गया है, "सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में प्रायः हिन्दी साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया। ब्रजभाषा का रूप दिन दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत होता चला

---

* डा० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा, पृष्ठ १२६।

† डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ६४।

गया है। बिहारी और सूरदास की भाषा में बहुत भेद है। बुन्देलखण्ड तथा राजस्थान के देशी राज्यों के सम्पर्क में आने के कारण इस काल के बहुत से कवियों की भाषा में जहाँ तहाँ बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिए केशवदास (१६०० ई०) की 'ब्रजभाषा' में बुन्देली प्रयोग बहुत मिलते हैं*।" ये कथन इतिहास सम्मत कदापि नहीं हैं, न किसी शास्त्रीय पुस्तक में स्थान पाने योग्य हैं।

हम पहले लिख आए हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में भाषा और बोली का भेद अधिक स्पष्ट था, इसी कारण उनके द्वारा सत्यनारायण कविरत्न† के नाटकों में मथुरा गोकुल के स्थानीय शब्दों के प्रयोगों की भर्त्सना की गयी है। यद्यपि उनके द्वारा खुसरो और कबीर की भाषा में 'ब्रजभाषा' के दर्शन किये गये, तथा उन्होंने लिखा, "पश्चिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आसपास के गीत ब्रजभाषा ही में गाए जाते थे, यह अमीर खुसरो (संवत् १३४०) के गीतों में दिखा आए हैं। कबीर (संवत् १४५६) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी भाषा तो सधुक्कडी है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित ब्रजभाषा ही है‡।" परन्तु यह केवल नामभेद है, रूपभेद आचार्य शुक्ल के सामने स्पष्ट था। नाम की चकाचौंध में प्रसिद्ध विद्वान श्री किशोरीदास वाजपेयी भी कुछ ऐसा ही कथन कर गये। वे लिखते हैं¶ "वर्तमान मथुरा जिले में और उसके चारों ओर दूर दूर तक ब्रजभाषा का राज्य है। उधर अलीगढ़, बदायूँ, मैनपुरी आदि के जिले और इसी प्रकार चारों ओर इस

पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्री किशोरीदास वाजपेयी की स्थापनाएँ

---

* डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ ८१।

† पीछे पृष्ठ १२३ देखिए।

‡ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ १८८।

¶ किशोरीदास वाजपेयी ब्रजभाषा का व्याकरण, पृष्ठ ८३।

प्रशस्त काव्यभाषा को राजस्थानी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, कन्नौजी, अवधी, मालवी आदि के संकुचित रूप दे दिये गये। भारत में बोली बारह कोस पर बदलती है, ऐसी जनश्रुति है। बुन्देलखण्डी भी दतिया, ओड़छा, टीकमगढ, सागर, भेलसा में कुछ न कुछ विभेद लिये ही है। यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति की बोली अपनी विशिष्टता लिये रहती है। जिन्हे इन बारीकियों की खोज का शौक है वे उनके निरूपण के लिए स्वतंत्र है, परन्तु मध्यकाल की काव्य-भाषा की नापतौल बोलियो के आधार पर नहीं की जा सकती। वह ग्रियर्सन साहब अथवा उनके अनुकरण करने वालों के इन विभेदों को नहीं मानती। इन पैमानों से मध्यकालीन कवियो की काव्यभाषा नहीं परखी जा सकती। उसके कारण तो विभ्रम ही उत्पन्न होता है।

हिन्दी को 'ग्वालियरी भाषा' नाम कुछ शताब्दियो तक एक स्थान-विशेष के सास्कृतिक केन्द्र बनने के कारण प्राप्त हुआ था। यह कारण न रहा, तब इस नाम का अधिकार भी कम हो गया। साम्प्रदायिक आग्रह और अंग्रेज भाषाविदो की कृपा से ब्रजभाषा नाम चला दिया गया। नाम तो अनेक बने और बिगडे है, रूप भी बनते और बदलते हैं, परन्तु जब भाषा और साहित्य के विकास की खोजबीन होती है तब तथ्यों और सत्यों को भुला देने से सही परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता। फिर तो केशव, सूर, तुलसी की भाषा में बुन्देलखण्डी प्रयोग दिखने लगते है, अमीर खुसरो, कबीर, नरपति, चंदवरदायी आदि की भाषा मे ब्रजभाषा, अवधी और बुन्देलखण्डी रूप देखे जाते है, बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा दो पृथक पृथक बोलियाँ (या काव्य-भाषाएँ ?) मानी जाती हैं तथा बुन्देलखण्डी को ब्रजभाषा की उपभाषा लिखा जाता है, सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में मध्यदेश के एक कोने में जो नामकरण हुआ उसके स्थानीय मान से समस्त मध्यदेश की भाषा की परख की जाती है, बिना यह ध्यान दिये कि कब कौनसा रूप काव्यभाषा के लिए मान्य समझा जाता था। 'ग्वालियरी भाषा' नाम पुन. प्रचलित करने की

कल्पना तो किसी सही मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हो सकती, आग्रह केवल यह है कि मध्यकालीन हिन्दी को कभी ग्वालियरी भाषा कहा जाता था और वहीं से, बुन्देलखण्ड से, उसके मध्यकालीन काव्यभाषा के रूप का निर्माण हुआ, वह छोटे से ब्रजमंडल में प्रयुक्त शब्दावली तथा व्याकरण से सीमित नहीं थी, यह स्वीकार कर लिया जाय और यह मान लिया जाय कि ब्रजभाषा नाम की यदि कोई भाषा या बोली है तो वह इस मध्यदेशीय भाषा की उपबोली है, उस मध्यदेशीय भाषा की जिसका निर्माण ग्वालियर अर्थात बुन्देलखण्ड में हुआ, इसलिए नहीं कि (जैसा श्री राहुल जी ने लिखा है*) आज के बुन्देले कोई बात पसन्द या नापसन्द करते है, वरन इसलिए कि इतिहास यह कहता है, तथ्य यह कहते है और सत्य भी यही है।

वास्तव में पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस नवीन भारतव्यापी काव्यभाषा के निर्माण का प्रथम चरण था। वह अगली शताब्दियों में अत्यन्त पुष्ट हुई। अफगान सुल्तानों और मुगलों द्वारा उसके सार्वदेशिक विकास मे पहली बार बाधा डाली गयी थी, अतएव गुजराती, मराठी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाएँ उससे दूर जा पड़ीं। अंग्रेजों ने उसके क्षेत्र में ही उसके सैकड़ों रूपों के दर्शन हमे करा दिये और अंधे की लाठी पकड कर हमने बुन्देलखंडी, भिदावरी, तवरघारी, भदावरी, ब्रज, अवधी, कन्नौजी, राजस्थानी, मालवी, मेवाती आदि अनेक नाम सीख लिये। स्थानीय और व्यक्तिगत विभेदों की ओर देखा जाय तब तो भारत में करोड़ों बोलियाँ बन सकती है, परिभाषित होकर अध्ययन का विषय भी बनायी जा सकती है, परन्तु काव्यभाषा तो मध्यकाल मे एक ही थी। कुछ समय तक हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का झगड़ा हम देख चुके है, उसमें से हिन्दुस्तानी तो समाप्त हो गयी और उर्दू पराई हो गयी। जनपदों की बोलियों के रूप जनपदों तक अथवा उनकी बारीक खोजबीन करने वालों तक ही सीमित रहने चाहिए। मुद्रण की सुविधा के इस युग मे, स्वतंत्र भारत में,

* पीछे पृष्ठ ४ देखिये।

सम्प्रदाय और राजनीति हिन्दी के रूप को अब सकुचित नहीं कर सकते। मध्यदेश की भाषा का एक रूप, उसे मेरठ की बोली कह लीजिए, चाहे गूजर-आभीरों की वाणी कह लीजिए और चाहे हिन्दी कह लीजिए, और अगर कष्ट न हो तो वजही के साथ उसे ग्वालियर के चातुरों की वाणी कह लीजिए, अब राष्ट्रव्यापी रूप ग्रहण कर चुकी है। रहा इतिहास, सो वह आज नहीं तो कल, कभी न कभी शुद्ध दृष्टि और बुद्धि से लिखा ही जायगा, और वह जब भी सही रूप में लिखा जायगा तभी ग्वालियर के तोमर और उनके समय के 'ग्वालियर के चतुर' हिन्दी भाषियों से अपने ऋण का परिशोध — एहसान के दो बोल — पाने के अधिकारी हो जायेंगे। अभी तो हम केवल यही दुहराए देते हैं कि नाम बदलते हैं, इसकी कोई चिन्ता नहीं, परन्तु इतिहास और परम्पराएँ भुलादी जाएँ, वे भी इतिहास के ग्रन्थों में, यह चिन्तनीय अवश्य है। इस विवेचन से यदि हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास को सही दिशा मिल सके तो उचित होगा, वैसे तो रूढ़ियाँ, चाहे वे गलत ही पड़ जायँ, देर से मरती हैं।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

१

गोस्वामी विष्णुदास

(सन् १४३५ ई०)

महाभारत कथा

विनसै धर्म किये पाखंडू, विनसै नारि गेह परचंडू।
विनसै राड़ु पढाये पाड़े, विनसै खेलै ज्वारी डाँडे ॥१॥
विनसै नीच तनै उपजाऊ, विनसै मूत पुराने हाऊ।
विनसै माँगनौ जरै जु लाजै, विनसै जूझ होय बिन साजै ॥२॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई, विनसै घर हौंते रत धरमी।
विनसै राजा मंत्र जु हीनू, विनसै नटपु कला बिनु हीनू ॥३॥
विनसै मन्दिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिषि पढाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई ॥४॥
विनसै यति गति कीनै व्याहू, विनसै यति लोभी नर नाहू।
विनसै घृत हीनें जु अगाहू, विनसै मन्दी चरै जटाहू ॥५॥
विनसै सोनूं लोहु पढायें, विनसै सेव करै अनभायें।
विनसै तिरिया पुरिष उदासी, विनसै मनहिं हँसे बिन हाँसी ॥६॥
विनसै रूख जो नदी किनारें, विनसै घर जु चलै अनुसारे।
विनसै खेती आरसु कीजैं, विनसै पुस्तक पानी भीजैं ॥७॥
विनसै करनु कहै जे कामू, विनसै लोभ व्योंहैरै दामूं।
विनसै देह जो रावै वेस्या, विनसै नेह मित्र परदेसा ॥८॥
विनसै पोखर जामें काई, विनसै बूढो व्याहे नई।
विनसै कन्या हर-हर हसयी, विनसै सुन्दिर पर घर बसयी ॥९॥
विनसै विप्र बिन षट धर्मा, विनसै चोर प्रजा सैं मर्मा।
विनसै पुत्र जो बाप लड़ायें, विनसै सेवक करि मन भायें ॥१०॥
विनसै यश क्रोध जिहि कीजैं, विनसै दान गेव करि दीजै।
इतौ कपटु काहे कों कीजै, जौ पंडो वनवास न दीजै ॥११॥

अहंकार तें होई अवाजू, ऐसें जाय तुम्हारो राजू।
हीनि कीनिहूं है दिन मारी, जम दीर्में नर बदन पसारी ॥१२॥

× × ×

किरपा कान्ह भयो आनन्द, जो पोषन समर्थ गोव्यद।
हरि हर करत पाप सब गयो, अमरपुरी पाप सब गयो ॥२९४॥
अविचल चौक जु उत्तिम थान, निश्चल वास पाडवन जान।
यकादशी सहस्र जो करैं, अस्वमेध यज्ञ उच्चारैं ॥२९५॥
तीरथ सकल करैं असनाना, पडौ चरित सुनैं दैं काना।
वरिष दिवस हरिवस पुराना, गऊ कोटि विप्रन कहूं दान ॥२९६॥
जो फल मकर माघ स्नाना, जो फल पाडव सुनत पुराना।
गया क्षेत्र पिंड जो भरैं, सूर्य पर्व गगाजी करैं ॥२९७॥
पडौ चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनैं।
एक चित्त सुनैं दै कान, ते पावैं अमरापुर थान ॥२९८॥
पडौ कथा सुनैं दै दानु, तिनकौं होय प्रयागै थानु।
स्वर्गारोहण मन दै सुनैं, नासै पाप विष्णु कवि भनैं ॥२९९॥
रामकृष्ण लेखक को लिखौ, बाँचे सुणें सो होइगी सुखी।
श्री वल्लभ राम नाम गुण गाई, तिनके भक्ति सुदृढ ठहराई ॥३००॥*

---

* पिनाहट, जिला आगरा के श्री चौबे श्रीकृष्ण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९-३१, पृष्ठ ६५३-६५४)।

रुकमणि मंगल

दोहा

रिधि-सिधि सुख सकल विधि नवनिधि दे गुरुज्ञान।
गति मति सुति पति पाईमत गनपति को घर ध्यान ॥१॥
जाके चरन प्रताप ते दुख मुख परत न डिठ।
ता गज मुख मुख करन की सरन आवरे डिठ ॥२॥

पद

प्रथम ही गुरु के चरण वंधन गौरी पुत्र मनाइये।
आदि है विष्णु जुगाद है ब्रह्मा सकर ध्यान लगाइये।
देवी पूजन कर वर मागत शुध बो ज्ञान दिवाइये।
ताते अति सुख होय अबे आनद मंगल गाइये।
गोरा लक्ष्मी स्वरूहा सरस्वति तिनको सीस नवाइए।
चंद्र सूर्य दोऊ गंगा जमुना तिनको ते अति सुख पाइए।
सत महंत की पग रज ले मस्तक तिलक चढाइए।
बिष्णुदास प्रभु प्रिया प्रीतम को रुकमनी मंगल बनाइए।

राग गौरी

गुण गाऊँ गोपाल के चरण कमल चितलाय।
मनइच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय।
भीषम नृप की लाडली कृष्ण ब्रह्म अवतार।
जिनकी अस्तुति कहत हौं सुन लीजे नर नार।

पद

तुच्छ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई।
रोम रोम रसना जो पाऊँ महिमा बरणे नहिं जाई।

सुर नर मुनि जन ध्यान धरत है गति किनहूँ नहिं पाई।
लीला अपरपार प्रभू की को करि सकै बढाई।
वित्त समान गुण गाऊ स्याम के कृपा करो जादोराई।
जो कोई सरन पडे हैं रावरे कीरति जग में छाई।
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी म प्रीति लगाई।

× × ×

रागनी पूर्वी दोहा

विदा होय धनस्याम जू तिलक करै कुल नारि।
तात मात रुकमन मिली अँखियन आँसू डारि।
मोहन रुकमिन ले चले पहुँचे द्वारका जाय।
मोतियन चौक पुराय के कियो आरती माय।
आज बधाई बाज माई वसुदेव के दरबार।
मनमोहन प्रभु ब्याह कर आए पुरी द्वारका राजै।
अति आनद भयो है नगर में घर घर मगल गाई।
अगन तन में भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज।
बाजे बाजत कानन सुनियत नौबत धन ज्यूं बाज।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजे दुख भाज।
नाचत गावत मृदग बाज रग बसावत आज।
विष्णुदास प्रभु की ऊपर कोटिक मन्मथ लाज।

रागिनी धनासिरी दोहा

पूजत देवी अंबिका पूजत और गणेश।
चद्र सूर्य दोऊ पूज के पूजन करत महेश।
कुल की सति अनु जाइके बहुत करी मन सेव।
मोहन छडियन खेल के और पूजो कल देव।

पद

मोहन महलन करत विलास।
कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोऊ नहिं पास।
रुक्मिन चरन सिरावैं पिय के पूजी मन की आस।
जो चाहो सो अबे पावो हरि पत देवकी साथ।
तुम बिन और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास।
निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास।
घट घट व्यापक अंतरजामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास।
विष्णुदास रुक्मन अपनाई जनम जनम की दास*।

विष्णुपद†

मेहलन मोहन करत विलास।
कहौ मोहन कहाँ रमन रानी और कोऊ नहिं पास॥
रुकमन चरन सिरावत पिय के पूजी मन की आस।
जो चाहै विसो अब पायो हरि पति देवकी सास॥
तुम बिन और कौन यो मेरो धरन पताल अकास।
पल सुमरन करत तिहारो सनि पूल पर गास॥
घट घट व्यापक अंतरजामी सब सुखरासी।
विष्णुदास रुक्मन अपनाई जनम जनम की दासी॥

---

* गडवापुर, जिला सीतापुर के प० गणपतलाल दूबे की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२६-२८, पृष्ठ ७५६-७६०)।

† वृन्दावन के गोस्वामी राधाचरण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९१२-१९१४, पृष्ठ २४२)।

स्वर्गारोहण

दोहरा

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक बरदान।
स्वर्गारोहण ग्रंथ की बरणौं तत्व बखान॥

चौपाई

गणपति सुमति देह आचारा। सुमिरत सिद्धि सो होइ अपारा।
भारत भाषो तोहि पसाई। अरु शारद के लागो पाई॥
अरु जो सहज नाथ वर लहहूँ। स्वर्गारोहण विस्तार कहहूँ।
विष्णुदास कवि विनय कराई। देहु बुद्धि जो कथा कहाई॥
रात दिवस जो भारथ सुनई। नासै पाप विष्णु कवि भनई।
यो पाडव गरि गये हेवारे। कही कथा गुरु वचन विचारे॥
दल कुरु खेतहि भारत कियो। कौरव मारि राज सब लियो।
जदुकुल में भये धर्म नरेशा। गयो द्वापर कलि भयो प्रवेशा॥
सुनहु भीम कह धर्म नरेशा। बार बार सुनि लै उपदेशा।
अब यह राज तात तुम लेहू। कै भैया अर्जुन कह देऊ॥
राज सकल अरु यह संसारा। मैं छाडौ यह कहै भुवारा।
बन्धु चार ते लये बुलाई। तिनसो कही बात यह राई॥
सै लै भूमि भुगतु वरबीरा। काहे दुर्लभ होउ सरीरा।
ठाढे भये ते चारों भाई। भीमसेन बोले शिरनाई॥
कर जुग जोरे विनई सेवा। गयो द्वापर कलि आयो देवा।
सात दिवस मोहि जूझत गयऊ। टूटी गदा खड द्वै भयऊ॥
हारो जुद्ध न जीतो जाई। कलि जुग देव रह्यो ठहराई।
इतने बचन सुने नरनाथा। पाचो बधु चले इक साथा॥
नगर लोग राखें समुझाई। मानत कह्यो न काहू की राई॥

× × ×

कंचन पुरी सु उत्तम ठाऊँ। तहाँ बसैं पाडव को राऊ।
एकादशि व्रत यो मन धरई। सु जो अश्वमेध पुनि करई॥
तीरथ सकल करे अस्नाना। सो फल पाडव सुनत पुराना।
वर्ष दिवस हरिवंश सुनाई। देइ कोटि विप्रन कौं गाई॥
गया मध्य जो पिन्ड भराई। अरु फट कर आचमन कराई।
सूर्य पर्व कुरु खेत नहाई। ताको पाप सैल सम जाई॥
स्वर्गारोहण मन दै सुनई। नासैं पाप विष्णु कवि भनई।
वित उनमान देहि जो दाना। ताको फल गया अस्नाना॥
यह स्वर्गारोहण की कथा। पढ़त सुन फल पावै जथा।
पाडव चरित जो सुनैं सुनावै। अन्न धन्न पुत्रहि फल पावै॥

दोहा

स्वर्गारोहण की कथा पढ़ै सुने जो कोइ।
अष्टादशौ पुराण की ताहि महाफल होइ॥*

स्वर्गारोहण पर्व

....सो कथ्र।
और जो सब गुन विस्तार कहे। कहत कथा कछु अछल है।
बाढ़ी सर्म हँसि बोले जगदीशा। पाँचो बीरहि कर धीसा।
....तुम जिन हथिनापुर ठहराहू। पाँचौ बीरहि बारै जाहू।
तुम जिन चीर धरो सदेहू। पूरब जन्म लहौ फल ऐहू॥
सुनि कौंता बिलखानी बैंना। जल हल रूप भये ते नैंना।
जा धरती लगि भारथ कीना। द्रोवान गंगे बेर्षा लीना॥
कमल फूल सेई रमकारी। सो भैया पाले सिधारी।
मारे कर्न सहित सजूता। से घर छाडि चले अब पूता॥

---

* दरियावगज, जिला एटा के लाला शंकरलाल पटवारी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९-३१, पृष्ठ ६५६-६५७)।

धरिती छाडि सर्ग मन धरिया । इतनी सुन कोंता लरखरिया ।
विलखि परिछिति राखि समभाई । बैठे राज प्रजा प्रतिपाली ॥
राज सहदेव नकुल को देहू । हमको संग आपने लेहू ।
तुमैं छाँडि मोर्पे रह्यो न जाई । साथ तुम्हारे चलिहों राई ।
इतनी सुनि बोले नरनाथा । जुगति नही चलौं तुम साथा ॥

× × ×

कायापलट भई उन देहा । पिछलो उनको नाहिं सनेहा ।
उनको नाहिन सुरति तुम्हारी । अब तुमहिको धरी द्वै चारी ॥
कलि लाटि सुरपति जहाँ कहिया । ताको पाप छाडिते रहीया ।
दव दृष्टि उन भये सरीरा । तुम्हें नाहिं पहचानत बीरा ।
कलिजुग देव पाप की रासी । साथ लोग छाँडेगे जासी ।
कलि में ऐसी चलिहै राई । जाति बडी विस्वा घर जाई ॥
कोर कहों सब कलिके भेवा । कहत सुनत जग वितो देवा ।
ब्रह्मकुंड तुम करो अस्नाना । और अचवो तुम अमिरत पाना ।
देव गननि के वदों पाई । मुनि नारद को जाहुँ लिवाई ।
अब तुमकों पहिचानि है राई । देखत चरन रहे लपटाई ॥
तुद चरनन में माथो लावै । ऐसो इन्द्र जू कहि समुझावै* ॥

---

* अतमादपुर, जिला आगरा के पं० अजीराम की प्रति से (खोज रिपोर्ट १६२६-३१, पृष्ठ ६५७-६५८)।

२

मानिक कवि

(सन् १४८६ ई०)

बैताल पचीसी

चौपही

सिर सिंदूर बरन मैमंत । विकट दन्त कर फरसु गहन्त ॥
गज अनन्त नेवर झंकार । मुकट चन्दु ग्रहि सोहे हार ॥
नाचत जाहि धरनि धसमसै । तो सुमिरन्त कवितु हुलसै ॥
सुर तेतीस मनावैं तोहि । 'मानिक' भनै बुद्धि दे मोहि ॥
पुनि सारदा चरन अनुसरो । जा प्रसाद कवित्त उच्चरो ॥
हंस रूप ग्रंथ जा पानि । ताको रूप न सको बखानि ॥
ताकी महिमा जाइ न कही । फुरि फुरि नाइ नाद भा रही ॥
तो पसाद यह कवितु सिराइ । सा सुवरनो विक्रम राइ ॥

× × ×

सुनै कथा नर पातग हरे । ज्यो बैताल बुद्धि बहु करे ॥
विक्रम राजा साहस करे । कहु 'मानिक' ज्यो जोगी मरे ॥
सवत पन्द्रह सै तिहिकाल । ओर वरस आगरो छियाल ॥
निर्मल पाख आगहनु मास । हिमरितु कुम्भ चन्द्र को वास ॥
आठै दोसु वार तिहि भानु । कवि भाषै बैताल पुरानु ॥
गढ ग्वालीयर पानु अति भलो । मानुसिंघ तोवरु जा बलो ॥
सधई खेमल वीरा लीयो । 'मानिक' कवि कर जोरैं दीयो ॥
मोहि सुनावहु कथा अनूप । ज्यो बैताल किये बहु रूप ॥

× × ×

कायथ जाति अजुध्या वासु । ममऊ नाऊ कविन को दासु ॥
कथा पचीस कहो बैताल । पोहोचो जाइ भीव के पताल ॥

ताकै बस पाँचइ साम । आदि कथनु सो मानिक नाम ।।
ता 'मानिक' मुन मुत को नदु । कविता वन्त गुनकि को यदु ।।
जैसे भाट छल्या पाताल । ज्यों मांग्यो विक्रम भुवाल ।।
जेहि विधि चित्ररेख वस करी । ग्रोरु आपनी आपदा हरी ।।

× × ×

मति ओछी अरु थोरो ग्यान । करी बुद्धि अपने उनमानु ।।
अक्षर कटे होइ तुक भग । समझो जाइ अर्थ को घग ।।
जहाँ जहाँ अनमिली बात । तहँ चोकस कीजो तात ।।

× × ×

जो पढि है बैताल पुरानु । ग्रोर सत मुनि देहै कानु ।।
तिनि के पुत्र होहिं धन रिधि । ग्रोरु महथ्र जिती सब सिधि ।।
कर जोरैं भाषैं सावन्तु । ज जै कृष्ण (?) संत को तंत ।।
विक्रम कथा मुने चित कोइ । कायरु सो नर कबहू न होइ ।।
रात साहसु पुरुषारथ धरे । जो यह कथा चित्त अनुसरे ।।
सो पण्डित कवि होइ अपार । बानी बुद्धि होइ विस्तार ।।*

---

* कोसीकला, जिला मथुरा के पं० रामनारायण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९३२-३४, पृष्ठ २४०-२४१)।

३

थेघनाथ

(सन् १५०० ई०)

भगवत गीता भाषा*

चौपाई

सारद कहु बंदो करि जोर। फुनि सिमिरों तेतीस करोर ॥
रामदास गुरु घ्याऊ पाइ। जा प्रसाद यह कबितु सिराइ ॥
मूढ़नि कों है विष वल्लरी। गुनियनि कों अमृत मंजरी ॥
पेषनाप अमृत विस्तरै। बिनती गुनी लोग सों करै ॥
आगि माहि डारियै स्वर्न्न। बुरे भले को लीजै मर्म ॥
तैसें सत लेहु तुम जानि। मैं जु कथा यह कही बखानि ॥
पद्रहसै सत्तावनि मानु। गढ़ गोपाचल उत्तम ठानु ॥
मानसाहि तिह दुर्ग नरिंदु। जनु अमरावती सोहैं इंदु ॥
नीत पुन सों गुन आगरो। वसुधा राखन को अवतरो ॥
जाहि होइ सारदा बुद्धि। बैं ब्रह्मा जाकैं हिय सुद्धि ॥
जीभ अनेक सेष ज्यौं धरै। सो श्रुत मानस्यंघ की करै ॥
ताके राजधर्म की जीत। चले लोक कुल मारग रीत ॥
सबही राजनि माहि अति भले। तोंवर सत्य सील ज्यावले ॥
ता घर मान महा भड़ सिरै। हथनापुर महि भीषम जिसे ॥
पाप परहरै पुन्नहि गहै। निस दिन जपतु कृस्न कहु चरै ॥
सर्व जीव प्रति पालै दया। मानु निरदु करै तिह मया ॥
थ्यानि पुरषनि मैं परिधान। एकहि सदा जस्यसी भानु ॥
दयावंत दाता गंभीर। निर्मल जनु गंगा को नीर ॥
जो ब्रह्मा गव्वै गुन जासु। तो गुन तंत जोग मनु तासु ॥
जे रूप मगद द्रिढ़ व्रतु लहै। जो द्रिढ़ सत बुधि स्थिर गहै ॥
स्वाम धर्म यों पारे मानु। जा सम भयो न दूजो आन ॥

---

* आर्य भाषा पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सौजन्य से प्राप्त।

सब ही विधा ग्राहि बहुत । कीरत सिंघ नृपति के पूत ॥
षट दरसनि के जानें भेव । मानें गुरु अरु बृह्मनु देव ॥
समद समानि गहरु ता हियें । इक वृत पुत्र बहुत तिह कियें ॥
भले बुरे को जानें मर्म । भानु कुवर जनु दूजो धर्म ॥
इहि कलजुग में है सब कोई । दिन दिन लोभ चौगनो होई ॥
अनु धनु जसु गाढ़ित तिन गयो । पै वै बयो हूं माथ न भयो ॥
इतो बिचारु भान सब कियो । त्रिभुवनु माहि बहुत जसु लियो ॥
भानु कुवरु गुन लागहि जिते । मोपे वर्नें जाहि न तिते ॥
जीभ अनेक जु प्रानी होई । याके जसहि वखानें सोई ॥
कै आइवंलु होइब घने । बरनें गुन सो भानहि तनें ॥
कै सारद को दरसनु होई । प्रादि अति गुन बरनै सोई ॥
घेघू इन में एकै लहै । ऊची वुधि करि चहु गुन कहै ॥
सो जीगना सूर सम होई । तो गुन बरनि कहै सब कोई ॥
जापें सायर पैरयो परें । सो गुन भान तनें बिसतरें ॥
अगनित गुन ता लहैं न पारु । कल्पबृक्ष कलि भानु कुमारु ॥
कल्पबृक्ष की साखा जिती । गढ़ि करि लेखन कीजै तिती ॥
कागद तहा धरन को होई । पार्वतु जो काजर को होई ॥
फुनि सारद करि लेखन लेई ॥

लिखत ताहि भान गुन ताहि । तऊ न ताकें चित्त समाहि ॥
है को भानहि गुन बिस्तरें । गुनियर लोग खरे मन ढरें ॥
तिहि तबोर घेघू कहु दयो । अति हित करि सो पूछन ठयो ॥
जाकें अधक बहुत जुग भागु । ताही को भावै वैरागु ॥
एकहि तब चित होइ उल्हास । जब काहू पहिनि सुनहि हास ॥
देख जाहि रीझै ससारु । एकनि को भावै सिगारु ॥
बहुत भयानक ऊपर भाउ । काहू करुना ऊपर चाउ ॥
एकनि कें जिय भावें बीरु । जो अरि देखति साहिस धीरु ॥
कहै भान मो भावें राम । जातें ज्यो पावें बिस्राम ॥

इहि ससार न कोऊ रह्यौ । भान कुवर येघू सौ कह्यौ ॥
माता पिता पुत्र ससारू । यहि सब दीसै माया जारू ।
जाहि नाम ना कलजुग रहै । जीवै सदा मुवो कौ कहै ॥
कहा बहुत करि कीजैं ग्रानु । जो जानै गीता को ग्यानु ॥
जो नीकै करि गीता पढ़ै । सब तजि कहिवे को नहि चढ़ै ॥
गीता ज्ञान हीन नर इसो । सार माहि पसु बाधौ जिसो ॥
याते समझै सार प्रसारु । बेग कथा करि कहे कुमारु ॥
इतना बचन कुवरु जब कह्यौ । घरीक मनु धौलें परि रह्यौ ॥
सायर को बेरा करि तरं । कोऊ जिन उपहसहि करै ॥
जो मेरे चित गुरु के पाय । ग्ररु जो हियं बसे जदुराय ॥
सो यह मोपै ह्वं है तैसें । कह्यौ क्रसन ग्रर्जन सो जैसें ॥
सनिहु जे प्रानी गीता ग्यान । तिन समानि दूजौ नहि ग्रान ॥
सजय लीने ग्रघ बुलाई । ताको पूछनि लागे राई ॥
धर्म खेत्र कुरु जगल जहा । करौ पाडव मेले तहा ॥
तैसे जूझ कहा तहा होई । मोसौं वरनि सुनावो सोई ॥
मेर सुत ग्ररु पडौ तनें । तिनकी बात ससजय भने ॥

सजयउवाच

दोऊ दल चढि ठाढ़े भये । जित्रोंधन गुन पूछन सये ॥
विपम ग्रनी यह कही न जाई । ग्राचारजहि दिखावै राई ॥
तेरे सिप्य पड के पूत । कुटल वचन तिन कहे बहुत ॥
धृष्टदमनु ग्ररु ग्रर्जनु भीमु । निकुलु सहदेराऊ जीमु ॥
राऊ विराट द्रुपदु बर बीरु । कुन्त भाज रन साहस धीरु ॥
धृष्टकेतु कासीस्वर राउ । कह्यौ न जाइ जिनहि बडवाउ ॥
महारथी दोवै के पूत । एतै दीसै सुहड बहुत ॥
मेरे दल मै जिते झुमार । सुनो द्रोन गुर कह्यौ भुवार ॥
पहिलें तू सब ही गुन सूरु । ग्ररु भीषमु रन साहस धीरु ॥
नपाचार्यु जयद्रथु वर्मु । राजा सन मुहाय ग्रनुवर्न ॥

अस्वस्थामा अरु भगदंत । बहुत राइ को जानैं अंत ॥
भांति अनेक गहहि हथियार । जानहि सबै जूझ की सार ॥
सब जोधा ए मेरे हेत । तजि जीवनि आए कुरुखेत ॥
तिन महि भीषम महा जुझारु । सबहि सेना को रखवारु ॥
तीन भवन मैं जोधा जिते । भीषम की नहिं सरबर तिते ॥
इतने कहे राइ जब बैन । ठाड़े सुने तहा गुर द्रोन ॥
अति आनद पिता महि भयो । उपज्यो हरष सख करि लयो ॥
सिंघनाद गज्यौ बर बीरु । सतन सुत रन साहिस धीरु ॥
पूरे पंच सब्द तिन घने । नारायनि अर्जुन तब सने ॥
सेत तुरी रथ चढे मुरार । पथ लिये गोविन्द हकार ॥
पंचाजननु सख करि लिये । देवदत्त अर्जनु कों दिये ॥
आन जुझार पड दल जिते । सखनि पूरन लागे तिते ॥
सुनि करि सब्द अध सुत डरै । विनती पथ अरन भो करै ॥

अर्जनुउवाच

कौरों पाडव को दल महा । मेरो रथ लै थापो तहा ॥
पहिलै इनहि देखौं पहिचानि । को मो सो रन जोधो आनि ॥
ए दुर्बुद्धि अध के पूत । अब इन कीनी कुमति बहूत ॥
संजे काया अंध सों कहै । इतनी सुनि तब अर्जनु कहे ॥
लै रथ अग्न थापि पै तहाँ । दोऊ दल रन ठाढ़े जहाँ ॥
देखे अर्जुन भीषम द्रोन । कर्न महाभरु बनैं कोनु ॥
भैया ससुर देख सब पूत । पंचहि बिथा भइ जु बहूत ॥

अर्जनुउवाच

ए सब सहृदे हमारे देव । कै रन मडौं बिनवौं सेव ॥
सिथल भयो सब मेरो अंग । कापै हाथ करत रन रंग ॥
सूकै मुख अरु कपहि जाघ । बहुत दुख ता उपजै मन माझ ॥
इष्ट मित्र क्यों सकि यहि मारि । गोपीनाथ तुम हिर्दै बिचारि ॥
घट पंडव के बूडै राज । मानो बुरो जधिष्टर आजु ॥

हौ न अरजुन अब जुधहि करौं। देखति ही क्यों कुल संघरौं ॥
देखा सगुन कैसें बर बीर। ए बिपरीत जु गहर गभीर ॥
से उन मोको देखहि देव। होइ दुष्ट गति बिनवौ सेव ॥
अर्जुन बोलै देव मुरारि। जिहि ठा तुम्ह तह होइ न हारि ॥
हो न बिजौ चाहो आपनै। अरु सुख राज जु ही ठल तनै ॥
कहा राजु जीवनु यह भोग। भैया बध हसै सब लोग ॥
जिनकैं अर्थ जोरियै दर्ब। देषति जिनहि होइ अति गर्ब ॥
राज भोग सुख जिनकै काम। तै कैसे बधियै सग्राम ॥
द्रोन पितामहि बहुत कुवारु। सारे सुभर ते आहि अपार ॥
मातुल संबधी हैं जिते। हौं गोविन्द न मारौ तिते ॥
इन मारें त्रभुवन को राजु। जो मेरें घरि आवै आजु ॥
हौ न घाउ घालौं इन देव। मदसूदन मो विनवै सेव ॥
इन मारें हमको फल कौन। अजन कहे त्रस्न सो बैन ॥
याही लगि हो सेवो बीर। इन मारों सुख होइ सरीर ॥
अरु हम लोगन देई लोक। इनहि बधै बिगरै परलोक ॥
तातें हो न इनहिं संघरो। माधो तुम सों बिनती करो ॥
ए लोभी सुनि कस्न मरारि। कछू न सूझै हियै मझारि ॥
कुरवा वर्ध दोष अति मान। मित्र दोष कै पाप समान ॥
कै यह पापु निवर्ते हरी। अत्र त्रस्न सो विनती करी ॥
कुल क्षय भयें देखियै जबही। बिनसै धर्म सनातन तबही ॥
कुल क्षय भयो देखियै जाई। बहुरि अधर्मु होइ नव आई ॥
अबहि त्रस्न यह होइ अधर्म। तब वै सुदरि करै कुकर्म ॥
दुष्ट कर्म ये करिहे जबही। बर्ण सकटु कुल उपजै तबही ॥
परहि पितर सब मझार। जो कुटब घालियै मार ॥
नारिन कौं नर रखकु कोई। धर्म गये अपकीरत होई ॥
कुल धर्महि नरु बाटै जबही। परै नर्क संदेह न तबही ॥
यह मै बेदव्यास पहि सुन्यौ। बहुरि पंथ कस्न सों भन्यौ

सोई एक अचभे मोहि । द्वै करि जोरें बझौं तोहि ॥
तेरे सनिधान जो रहै । पापु न भेदै अर्जुनु कहै ॥
मोहि कुमति कै असो होई । बधि कुरवाहि राजु को लेई ॥
जो ए जूझहि मो सो आनि । हौं न बधौं इन सार गयान ॥
इतनो कहि अर्जुन बर बीर । छाडै धनुष धरै नहि धीर ॥
रथ कै पाछै बैठे जाइ । बहुत सोक मन मै पछिताइ ॥

४

अज्ञात गद्य लेखक

(सन् १५०० ई० लगभग)

हितोपदेस*

दोहा—श्री महादेव प्रताप तैं, सकल कार्य की सिद्ध।
चन्द्र सीस गंगा वहत, जांनत लोक प्रसिद्ध ॥१॥

वार्ता—श्री महादेव जी के प्रसाद तें। साधु पुरुष है। तिनकों सकल काम की सिद्धि होहु। कैसे है श्री महादेव जू। जिनकै माथै चन्द्रमा की कला है। सो गंगा जी के फेन की सी लगी है रेखा। अरु यह हितोपदेश सुनें तें पुरुष सस्कृत बचन मे प्रवीन होय। नीति विद्या कूं जांनै जे पंडित होय सो आपकूं अजर अमर जाने। अरु विद्या अर्थ धर्म को सचो करै। अरु सर्व द्रव्य में विद्या उत्तम धन है जाकौं कोऊ ले न सकै। अरु जाको मोल नाहीं। कबहू जाको छय नाही। जातें विद्या नीच मनुष्य कौं भी बडे राजा तांई पहुँचावै। आगें तो वाको भाग फलै। जैसें नदी नाले कौं समुद्र लगि पहुँचावै। अरु सास्त्र विद्या सीखै ताको मनुष्य में प्रतिष्टा जस होय। तासू विद्या कूं विरध अवस्था तांई सीखबो करै। यह गुप्त धन है। या कूं कोऊ चोर जार, राजा, ठग ले सकै नाही। सास्त्र विद्या बालक अवस्था में अभ्यास घणो कराइयै। जैसें कुंभार काचा कुंभ उपर चित्र करै सो अगनि में पचै तब चित्र दूर न होय। तैसें बालक अवस्था मैं सीखी विद्या जाय नाहीं। अब कथा को नाम रचत्र करि बालकन कौं नीत विद्या को ब्योहार उपदेस करत है। इहां नीति जाणवे के तांई पाच आख्यान करि समुझावै है। पहिलो तो मित्र लाभ ॥१॥ दूसरो मित्र भेद ॥२॥ तीसरो

---

* श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह से प्राप्त। श्री नाहटा जी इसका रचनाकाल १७ वीं शताब्दी से १८ वीं तक का मानते हैं। पीछे पृष्ठ ३२ पर जो मत दिया गया है वह मत श्री नाहटा जी का न समझा जाकर प्रस्तुत लेखक का समझा जाय।

विग्रह ॥३॥ चौथो सधि प्रीति ॥४॥ पाचमी नमित्र प्रनाम ॥५॥ इणा पाच की नीति करि कैं ॥ अब कथा को प्रारभ करै है । गगा जू कै तीर पटणा नाम नगर है । तहा सर्व राजान को गुन जा पासै एसौ राजा सुदरसन । सो राजा एक्या समैं काहू पै दोय सिलोक सुनै । जो बिद्या है सो सबही की प्राख है । सास्त्र रूपी नेत्र जाकै नाही सो अधरे हैं । जो बसत न देखी सो सास्त्र सुनै तें जानीयें । जो धन की अधिकाई अरु ठकुराई भलो बुरो न जानीयें । तो ए च्यार बात अनरथ को मूल है । तब राजा ऐसो सुनि अपने पुत्र की मूरखता देखि चिंता करत भयो । अरु कह्यौ ॥ ऐसे पुत्र भये कौन काम के । जिनमें धरम नाही । अरु विद्या नाही । ते पुत्र ऐसैं जैसें कानी आंख । देखवे कू नाही । अरु दुखने आवे तद पीर करै तैसें मूरख पुत्र सताप करै सो भलो नाही । तातें अनजायो पुत्र । मूओ पुत्र सो भलो । जाको दुखकरीयें पिण कितेरेक दिन पीछें भूल जाय । अरु मूरख पुत्र को दुख जावजीव ताइ रहै । ऐसो पुत्र भयो किहि काम को पुत्र सो जानीयें जू । बुद्धिवान पडितन की सभा मे जाको नाम लीजें । अरु मूरख पुत्र की माता तो बाझ कर बखानीयें । अरु जिनकाहू बडे तीरथ में बहुत तपस्या करी होय । सो ग्यानी होय । सो स्त्री कै विषै प्रियदरसन होय । अरु आप सब ही सू मीठो बोलै । धरमातमा होय । सुबुद्धी होय । द्रव्य उपाय जानें । देह आरोग्य होय । आज्ञाकारी होय । ऐसे पुत्र की माता पिता सार न करै तो सत्रु जानीयें । अरु पुत्र पडित हो नहीं तो सत्रु जांनियें । तब राजा कही । मेरो पुत्र पडित होय तो भलो । एक कोउ राज सभा में बोल्यो । राजा ए पाच बात देह धारी कों गरभ में सिर जै है । एक तो आयु ॥१॥ दूजो द्रव्य ॥२॥ तीजी विद्या ॥३॥ चौथो करम ॥४॥ पाचमो मरन ॥५॥ ए भावी में होयसो बिना भई न रहै । जैसे श्री महादेव जी कों नगनता । परमेश्वर कू सरप सिज्या । तातें चिन्ता काहे करीयें । जो तेरे पुत्र के करम में विद्या लिखी है तो विद्यावत होयगो । ऐसो जान चिता मत करो । तब राजा कही । यह तो साची हैं । पर मनुष्य कों परमेश्वर ।

जो विद्या साधन के अरथ दए है। जैसें एक चक्र को रथ न चले तैसें पुरसारथ कीया विना कारज सिद्ध न होय। तातें उद्यम सदा करीयें। करम को आसरो पकर बैठि न रहीये। यह पुरष को धरम है। जैसे कुंभार माटी आनें। जो कछु कर्यो चाहे सो करे। तैसे मनुष्य अपने करम समान फल पावै। करम तो जड़ है। तिनमु कछु न होय। उद्यम है सो करता है। तातें कर्त्ता करम को पेरे। तब भुलो बुरो करता करम के सजोग ते होय। अरु यह माता पिता को धरम है। जा पुत्र कों विद्या को उद्यम करावे का है। अरु प्रतिपालन करें जातें मूरख पुत्र संताप ही करे। पंडितन की सभा में सोभा न पावै। जैसे हंसन में बुगला न सोहे। तब राजा यह विचार पंडितन की सभा एकठी करी। अरु कह्यो। अहो पंडित समूह। तुममें कोउ ऐसो पंडित है। जो मेरे पुत्रन कों नीत मारग को उपदेस करि नवो जनम करें जैसें काच सोना की संगति करि मरक्त की भाव धरे। सरब लोग वाको मरक्त मनि जानें। तैसें साध संगति करि बुद्धि कर मूरख हूँ पंडित होय। जातें नीच की संगति बुद्धि नीच ही होय। तहाँ यह राजा की आज्ञा मुनि विसन सरमा ब्राह्मन सकल नीत सास्त्र को ज्ञाता बृहस्पति समान सो राजा सों कहत भयो महाराज राजकुमार तो पढायवे जोग्य है। जातें अजोग कूं विद्या न दीजे पढे तो सिद्ध न होय। अरु नीच पढ़े तो अनीत विसेष सीखें। विद्या को गुन छाडें औगुन को दृढ करि पकरें। तातें कुपात्र कों पढायबो कुगति नाही जैसें बिलाव कूं भोजन नवो नवो खवाइयें तो भी बिलखें की घात नहि करें। पुनि कोटि जतन करि बुगला कूं पढ़ाइयें तो भी सूवा सो न पढै। मुनि धरम में निपुन होय। मछली मारबे की घात अधिकी सीखें। राजा तुम्हारे कुल में निर्गुन बालक न होय। जैसें मनि मांनक की खान में काच न उपजै। तातें हम विद्या बेचें नाही। तुम पें कछु लें नाही। तुम्हारी प्रारथना है। तातें हम तुम्हारे पुत्र सहज सुभाय ही में नीति मारग में निपुन करि हैं। यह सुनि राजा। वृद्धि ब्राह्मन विसन सरमा सों बोले। अहो पुरुष को

सगति पाय करि नान्हे कीटक हूँ महादेव के माथे चढै । तैसें तुम्हारी सगति तें कहा न होय । जैसे पाथर की प्रतिष्टा करें तब सब मनुष्य देवता करि पूजें । पुनि जैसे उदयाचल परवत की बसत सूरज के उदें सूरज समान सरव वस्तु दीसें । तैसें साधु की सगति नीच हू की प्रतिष्टा होय । जैसे चदन बन विषें भोर वृच्छ हैं सो चदन समान करें । तातें मेरे पुत्रन कौं तुम पडित करिवे जोग हो । तुम सरव सास्त्र के जाण हो । पडित बुद्धिवान हो । तब राजा बीनती करि ब्राह्मन सू विचारि के अपनो पुत्र वा ब्राह्मन कू सौंप्यो । तब वह ब्राह्मन उनकौं ऊचे मन्दिर लै बैठ्यो कोईक समें पाय ए कही—सुनो महाराज कुवार । सुबुद्धी होय सो काव्य कथा, सास्त्र की बात सुनि दिन गमावे अरु मूरख होय सो निद्रा कलह खेल में दिन बितीत करें । तातें मैं मित्र लाभ की नीति कहौं हौं । तुम्ह कूं । तुम्ह सुनो । प्रथम मित्रलाभ सु नको बहुत है । एक चित्रग्रीव कऊवा । भोर मूसा । अरु कछुवा । अरु हिरण्य । ए परम मित्र हैं । तिनके मिलन अरु करन ताकी कथा कहत हैं । तब राज पुत्र कही—यह कैसी कथा है । अब विष्णु सरमा कहत है । गोदावरी नदी के तीर । एक बडो संवल को रूंख है । तहाँ सब दिसि के पछी आय बिसराम लेत हैं । तहाँ एक दिवस प्रात ही लघु पतनक नाम कऊवा जाग्यो । तहाँ काल रूप एक व्याधी आवत देख्यो । ताकौं देखि विचार कर कहन लागो आज प्रात समें अधरमी दुराचारी को मुह देख्यो । सो न जानीयें आज कहा होयगो । जो काहू भलें हू की प्रात समय दरसन हुय तो भलो हुय । यह विचारि कै लघुपतनक नामें कऊवा व्याधी को देखि उडि चल्यो ।। कह्यो है ।। उतपात की ठौर पडित चतुर न रहें । भय सोक मूरख परयो क करें । गृहस्थ कौं ऐसो विचार चाहीयें । नित्य प्रात ही उमें उठि कै यह विचारें । श्री परमेस्वर श्री चैन सूं आठ पुहर राखें । सत्रु मित्र सौं सावधान राखें । कष्ट सौं दूर राखें । तितरें ही व उन व्याधी रूंख तरें चांवर कै कन बिछाए । जाल पसार्‌यो । तब चित्रग्रीव परेवा परिवार सहित उडतें चावर देखें । तब एक

परेवा बोल्यो । ए चांवरा को चून खायो चाहत हों। तब चित्रग्रीव कही । या बन में चावर कहां तें । ए कछु कौतुक है। ए मोहि नीके नाँही लागतु हैं । सुनों जो तुम इन चावरन को लोभ करिहो तो जैसे कंकन के लोभ ते कोऊ बटोई मार्यो गयो । तब परेवा चावर खायो चाहत थो। सो चित्रग्रीव परेवा सों पूछए लागो । यह कैसी कथा है । तब चित्रग्रीव कहत है—

दोहा—मैं एक दिन बन में रह्यो, तहां चरित यह देख ।
वृद्ध बाघ ऐसी करी, मार्‌यो ब्राह्मन एक ॥

वार्ता—मैं एक दिन बन में रह्यो। तहां यह देख्यो। जु वृद्ध बाघ पानी में न्हाय। कुस हाथ में ले मारग में आय बैठो । इतेरे एक बटोई ब्राह्मन आय निकर्‌यो । ब्राह्मन मारग में बैठो बाघ दीठो । तब इन विचार याको भय सूं दूर रहवा लागो । तब बाघ तासूं कह्यो । अरे ब्राह्मन मैं मारग में बैठो हूं । सो पुन्य करने के संस्कार ते बैठो हूं अब मो पास यह सोना को ककन लेहु । कृष्णारपन करत हों । यह वाको वचन सुनि बटोई विचार्‌यो । आज तो मेरो भाग जाग्यो दीसत है । पर तूं ऐसो सदेह में जायबो जुगत नाहो । बुरे ते भली वसत पावे तो आगे दुख पावे । जैसे अमृत में विष होय तो मारे ही मारे । अरु द्रव्य की प्रापत है जहाँ कष्ट होय । जहां कष्ट है तहां फल है । जैसे जहां माया तहां सांप । जहां फूल तहां कांटा । बिन दुख सहे सुख नाही । यह विचार बाघसूं कही तेरे कंकन कहां हैं। तब बाघ हाथ पसार कंकन दिखायो। तब बटोई ब्राह्मन कह्यो । तूं बाघ व्याधि को करन वारो तेरो विसवास कैसे करूं । तब बाघ बोल्यो । अब हूं प्रात सिनान करत हों । अरु दातार हूं। अरु वृद्ध हूं । मेरे नख नाही । दांत नाहीं । फेर इन्द्रियन को बल हूट गयो । अब मेरी प्रतीत तें क्यूं न करे । अरु जग्य। वेदपाठ । दान । तप । सत्य । धीरज । छिमा । निरलोभ ए आठ प्रकार कहे हैं। तिनमें च्यार पाखंडी तें होय । अरे हूं तो निरलोभी हूं । अपने अरथ कंकन दीयो चाहत हूं । बाघ मांस खाय सो मेरे नाँही । न जाने सो

कहै। जैसे कुटनी दूती घरम चरचा करै तौ कोई न मानै। ब्राह्मन हत्यारौ भी मांनियै जैसे तू साचौ। पिए मेरी देह वृद्धा भई। जानै मैं बहुत पाप करे है। तातैं मैं सरब पाप को त्यागन करयौ। ग्रह धरम सास्त्र पढ्यौ है तो तू सुनि। जैसौ अपनौ प्रान आपकू प्यारौ है तैसौ सब प्रानी कौं प्रिय है। साध अपनी छिमा करै। सब सू दया करैं ग्रह काहू के देन में लेन में नाही। प्रीय मे अप्रीय में न होय। जगत सू असगत रहैं। अपनौ समौ पिछान और सू व्योहार साधे। ए साध के लछन है। सो तू दरिद्री है। तो कू प्रयोग पठाय कङ्कन दीयो चाहत हौ। यह बात श्रीकिसन जू राजा जुधिष्टर सैं कही है। दान दरिद्री कू दीजै। बहु फल होय। अरु दान वेदाक्त पाठी कू दीजै। सो दान सात्विकी कहीयै। तातै तू ब्राह्मन या सरोवर न्हाय। सुचि होय कै आव दान लेहु। तब ब्राह्मन पानी कें सरोवर म पैठौ सनान करिवे कौं। कीच में पाव अटक्यौ। निकस न सकै तब व घ उठि कै वापे चल्यो। ब्राह्मन कही। अहो सिंघ तू काहे आवति है। तब वाघ कही। पानी में ठाढो रहि। तो पं ककन कौ प्रयोग पठाय। सुसति सबद सुनाय जब नजीक गयो। तब वा ब्राह्मन की गति कीच में प्रापति भई देखिकें। वाघ गरदन पकरी। तब ब्राह्मन कही। पापी कौ वेद सास्त्र कौ पढिवौ पुनि निमित्त नाही। जाको जैसो सुभाव ताकौं तैसीई करियें। जैसे गाय का दूध मीठौ सदाई। जाकी इंद्री मन बसि नाहीं। जाकी क्रिया जैसे हाथी को सनान। दुहागनि को सिंगार। तातै मैं भली न करी। जू वाघ की प्रतीति करी। सब ही आपके कुल के सभाव चलैं। यह विचार करै तोलौ सिंघ ब्राह्मन मार भछन कर्यौ। तब चित्रग्रीव परेवा बोल्यौ। सदा बिन बिचारे काम न कीजे। जातै पचायो अन्न। पंडित पुत्र। पतिव्रता अस्त्री सुसेवित राजा बिचार कर कहिवौ अरू करिवौ। वासू बिगार कबहू न उपजै। यह बात सुनि। तब एक परेवा बोल्यौ। अहो ए बूढे की बातै आपदा में कहा सू बिचार करिहौ। ऐसो संदेह करत रहीयै तौ भोजन हू करत न बनै। जानै अन्न में पानी में संदेह ही है। तातै जो

विचार करत रहै तो सुख अरु जीवन कैसें बनें। जातें कह्यो है जो तृपावंत। असतोषी। क्रोधी। सदा सदेही। और के भाग की आस करैं। अति दयावत होय। ए छही सदा दुखी होय। यह सुनि वह परेवा चावर चुगन उतर्यो। ताके सग सब परेवा उतरे चित्रग्रीव परेवा विचार्यो। इनके सग होय सो होय। जातें मनुष्य अनेक सास्त्र पढै। औरन कौ उपदेस करै। पै लोभ आनि घेरै। तब बुद्धि न चलै। तहाँ इनहू कह्यो कुटुम्ब मे मरन भलो। अकेलो जीवन हू कछु नाही। आगे परेवा जाल में फसे। जाके कहे उतरे ते सब वाहू की निंदा करैन लागे। ए और हू ठौर कही है। जब सभा में सब सों आगे होय कारज कीजे तो सुधरै तब सब ही कूं फल बरोबर होय। अरु कारज बिगरै तो दोस एक कूं दीजे। वाकी निंदा सुनि चित्रग्रीव बोल्यो अरे याकूं दोस नाही। जब आपदा आवे। तब मित्र हू सत्रु होय। जैसे बछरा की गाइ की जाघ वाकौं बाँधिवे कौं थाभ होत हैं। आगे बधु सोई जो आपदा राखै। भई बात कूं पछितावे सो तो कपूत के लछन हैं। तातें धीरज करि छुटिवे कौ जतन करो। जातें आपदा में धीरज। सपदा में विनय। सभा मे वचन चतुराई। सग्राम में पराक्रम। जस में रुचि। पढिवे को विसन। सुनिवे कूं सास्त्र। यह महत पुरुष को सुभाव है अरु पुरुष कू छह दोष सदा छोडे चाहीये। निद्रा। अधीरज। भय। क्रोध। आरस। सोक। अब यह उपाय करो। सब एक मतै होय बल करो। या जाल कूं ले उडो। जातें थोरे ही एक मतै होय। तौ बडो कारज सिद्ध करै। जातें बहुत घास मिलायें जेवरी कीजे तो। तासों हाथी बाध्यौ रहे। यह विचार सब मिलि बल कीयौ। जाल ले उडे। जब व्याधी वाकों दूर ले जाते देखे। तब कह्यौ अब ही सब एक मतै है। जब जाल धरती परि है। तब इन परेवा को पकरि हूँ। तब व्याधी की द्रिष्टि तै परेवा दूर गये। तब व्याधी निरास होये। परेवा बोले। अहो राजा व्याधी तो हमारे मास की आस छोडी। अब जाल में सो कैसो निकस वो। तब चित्रग्रीव कही। संसार में माता पिता और मित्र। ए तीनू सुभाव ही ते हित

करै। तातै हमारो मित्र हिरन्यक नौमे मूसा विचित्र बन में गल्लू को नदी की तीर रहत हैं। तहाँ चलो। वह अपनौं अफद काटैगो। ऐसो विचार मूंसा कै द्वार मूफत गये । जहाँ हरन्यक अपने द्वार बैठो है। परेवा आवत देखे। तब बिल मै पैठो । चुप होय बैठो। तब चित्रग्रीव कही । मित्र बाहिर आवो। तब मित्र को बोल पिछान। बिल तैं निकस कही। मेरे वडे भाग। मित्र चित्रग्रीव आए । अरु जाल में पछी देखि कही मित्र ए कहा । तब चित्रग्रीव कही। यह पूरव जनम को पाप है। जार्को जैसी भावी लिखी होय। ताको तैसी होय। जाते रोग सोग बधन दुख अपने कीए करम को पाप है। यह सुनि मूसा चित्रग्रीव के बधन काटन चल्यो तब चित्र-ग्रीव बोले। मित्र पहले मेरे सगी हैं। तिनके बधन काटो पीछै मेरे बंधन काट। तब हिरन्यक कही। ए बधन कठिन। मेरे दात नरम। पहिले तेरे बधन काट। पीछै होय है सो औरन को कारज करूंगो। तब चित्रग्रीव कही। मित्र जो पहिलें इन सबन को बधन खुलै तो यह जुगत ही है। हूं आप पहिलें छूटौ इनमें एक हू पासी में रहै तो नायक नाही। हिरण्यक मूसै कही। अपनी छोड पराई बात कीजे तो यह नीति नाहीं। मुनौं दुख देखीयें अरु धन राखीयें। धन दीजे स्त्री की रख्या कीजे। अरु धन स्त्री जाय तौ जांन दीजे। अरु आपनपौ राखीयें। जातै परम ॥१॥ अरथ ॥२॥ काम ॥३॥ अरु मोख ॥४॥ ए च्यार पदारथ प्रान के रखि रहै। प्रान छाडे। जिन चाहू छाडे तब चित्रग्रीव कही। मित्र नीत तो ऐसो हैं। पे पडित होय सो सरनागत वछल चाहीयें। पराये हेत प्रांन अरु धन दीजे एक दिन तो सरीर को नास है। तातै औरन कै काज सरीर आवै तो यातै कहा भलो है। तातै तू मेरे अनित्य सरीर राखिबे की जतन छाडि अरु नित्य अविनासी जस को जतन करि। अनित्य देह तैं नित्य जस पाईयें। मलींन तैं निरमल बसत पाईयें। सरीर अरु जस बहुत अंतर है। यह सुनि कैं हिरण्यक संतोष पायो। अरु कही। मित्र तोकौं इन सेवकन के सनेह तैं तीन लोक को राज दूजीयें। यह कही।

सब ही के बधन काटे। अरु कही। मित्र तुम अपनी बुद्धि के दोष करि बधे। अब मन में दुख मत करो। जातें पछी एक जोजन तें भूमि पर यो अन्न देखें पै जाल न देखें काल जान चद्रमा सूरज कों राहु छाया करै हाथी अरु सरप कों भी बधन हैं। पंडित निरधन। कृष्ण जू कों सरप सिज्या। सब बातन में भावी करम रेखा सबल जानियें। और महा आकास गामी पछी हैं तेउ बधन में परत हैं। अभाग तें कहा न होय। विकट ठौरहू तें भी काल हाथ घाल के लेत है। सब ही तें काल महा बलवान है। जाकें आगें निहचल कोऊ रह्यौ नाही। ऐसो है। काल। यह भांति समुझाये। मनोहर वचन कहि चित्रग्रीव बिदा करे। मूसा बिल में गयो।

× × ×

अन्त

राजा भोज और पाडे वररुचि की कथा

एक राति समै राजा भोज की स्त्री राजा सों रीसानी। तहां राजा काम पीडित अनेक जतन करे। वाकें मन कछू न मानी। निदान रानी बोली। तू मेरो घोरा होय हूं तेरें मुख लगाम देकर तेरी पीठ पर चढौं। चाबक चटकाऊं तू हींसें। अरु मोह समें अगन में दौरत फिरै। तो तेरो मनोरथ करूं। तब राजा तैसीयें करी। सतोष पायो। अर वाही रात पाडे की स्त्री पाडे सू रीसानी तब ताहि पाडे कही। तू काहू भांति रीस छोडें। उन कही। तू मेरो अपराधी है। तेरो सिर मूडि तोहि भद्र करो। तो मेरो क्रोध मिटै। तब पाडे हू मूड मुडायो वाको गायो गायो। प्रात भये राजा सभा में बैठे। तहा पाडे आए। राजा रहस जान पूछन भए। अहो विप्र बिना परब भद्र भेष कैसें भए तहा राजा की रात को मरम पाडे जान्यौं हो। तातें पांडे कही। राजा स्त्री जित पुरुष कहा न करै। जहां मनुष्य घोरा की ही भांति हींसें। जहां बिना परब सिर हू मूडियें। तातें अरे दुष्ट बलधर तू काम अध स्त्री-जित है। ऐसे

वानर मगर विवाद करत एक जलचर मगर सू कही । तेरी स्त्री अनसन ते बैठी प्रान देत भई । अरु तेरे घर और मगर आय रह्यो है । ऐसी सुनि मगर दुख पायो । अरु कही । घर है सो स्त्री के आसरे है । स्त्री बिना घर अरु बन बराबर है । वृच्छ को मूल जैसे स्त्री घर को मूल है । जाते कह्यो है जा काहू के मात नाही अरु मीठा बोली स्त्री नाही ताकों बनवास भलो । तब मगर वानर सों कही । मित्र मेरो अपराध छिमा करो । हों अब स्त्री के दुख देह छाडत है । तब वानर हस्यो । एरे मूरख तेरे बिगार भयो सो जुगत ही है । अब वैसी दुस्ट स्त्री गई ताको तोकों उछाह करनो । जाते कलहगारनी स्त्री महा जरा को रूप है । जो अपनी आत्मा को चैन चाहे तो स्त्री सो बिरकत रहै । गुंजा फल जैसी स्त्री बाहिर सुरग भीतर विष चाहे सो करे । मन में होय सो कहि । अरु कहैं सो करे ई करे । स्त्रीयन के भाति भाति के चरित्र हैं । स्त्री रख्या मारन, ताडन, छेदन ते न होय । वह अपनी इच्छा सदा चले । सनेह करै । रस करै । बिरस करै । कोमल होय । कठोर होय । सब भांति आप कौ मनोरथ साधै । अरु स्त्री में सहज दोष सुभाव ही ते उपजै । झूठो बोलै । साहस बोहोत करै । माया खेलवै । कपट भरी होय । लोभ अधिक । असुचि रहै । निरदई होय । तब मगर कही । अहो मोमें दोष भांति भई । मित्र सों मिताई गई । अर उत स्त्री मरी । जैसे एक स्त्री के जार भयो न भरतार भयो । वानर कह्यो यह कैसी कथा है । तब मगर कहत है । काहू ठौर एक कृसान की स्त्री तरुनी । अरु भरतार बूढो । सो वाके मुख सों न पोंहचे । ताते केवल पर पुरुष हेरै । घर के काम सों वाको मन न लागै । उदास रहै । एक दिन कोई पराए चित वित को हरन हार वाकों आय मिल्यो । उन कही । हे सुभग सुभ लछन मेरो पति बूढो जर जर है । ताते तू मेरो भरतार होहु । घर को वित लेके तेरे संग चलों । उन कही । भली बात अब तू सवारे या ठौर आव इहांते मिलकर इहां ते भीजरै । तब वह अपने घर गई । रात को घर को वित सब समेट्यो गाठ बाधी प्रात ही उठी । वित ले सहेट की ओर गई । वह पुरुष बाह

आगें कर दख्यन कों चल्यो । जब कोस आठ गयो । तहा नदी को नालो आयो । तहा वह पुरुष विचार करत भयो यह जोबनवती पर पुरुष रति है । आज मेरें सग काल्ह काहू और सू बात करें । अर याके पीछे कोई आवे तो मोह भलो नाहीं । तातें याको बित ले चलत रहों । तब उनकों मतोष उपजाय अरु कही । हे भद्रे यह नदी बहे है । तातें पहिले अपनों बित्त पार घर आऊँ । बहुरि तोहि पीठ पर चढाय ले चलों । तब उन बित्त की गाठि वाकों सोंपी । धूरत विचारी यह कपरा आछे पहिरे हैं तो कपरा काहे छोडू । तब कही । प्रिये इहा और कोऊ नाही । कपरा पहिरे है तें उतार दे तब कपरा कु लए आप नदी पार गयो सु गयो ही गयो । वह बिभचारिनी नागी होय नदी की तीर बैठी । तहा एक स्यालनी मास को पिंडा लयें आई । देखे तो नदी की तीर एक मछरी निकर बैठी है । स्यालनी मास को पिंडा धरतो धरयो । आप मछरी पकरन दौरी । तहा मछरी तो पानी में कूद परी । अरु मास को पिंडा थो सो चील्ह झपट आकास गई । तब स्यालनी चील्ह साम्हो देखन लागी । तहा वहे बिभचारनी हँसी । अरु कही । अहे मछरी तो जल में गई अरु मास को पिंडा चील्ह ले गई । अब आप कहा देखत हो । तब स्यालनी बोली—जैसी हों चतुर तासों तोमें दूनो चतुराई । तेरो बित्त गयो अरु तेरें जार भयो न भरतार भयो । तू मोह बैठी कहा देखत है । मगर कही । मेरें घर और मगर आय रह्यो तिनसू कौन उपाय करों जातें कारज साधवे को नीत में च्यार उपाय कहे हैं । साम । दाम । डड । भेद । इन में मोकू जो बूझीये सो कहों । बानर कही । अरे मूरख कू उपदेस न दीजें । मगर कही । मित्र हूं मूरख मोक समुद्र में पर्यो हू । तू काढ । जातें कह्यो है । पर उपगार कों जे साधु हैं । तिनके गुन को पार नाही । अरु अपने काम सू जे असाध हैं । तिनकों असाधपनों कहा कहनों । तातें तू साध है । अरु हूं असाध तेरें सरनें आयो हूं । भलो उपदेस होय सो बताय । तब बानर वाको दीन पनो देखि कहत भयो । भाई अब तूं अपने घर जाइ । तेरे सजातीं सू जुध कर । जीतैगो तो घर भोगवैगो । मरेगो तो स्वर्ग

जायगी । जानें कह्यो है । उत्तम पुन्य सू साम उपाय कीजे । मनुहार करिये । अरु दुष्ट सू भेद उपाय वाके हितू से होय । वाही डराय अपनों काम कीजे । अरु बराबर के सत्रु सों डड उपाय लराई कर अपनों वित्त राखिये । जैस एक स्याल ऐसी नीति करी । काहू बन में चतुरानन नाम स्याल रहे । तिन एक तुरत को मर्यो हाथी पायो । ताके आस पास वह स्यान फिरे । पें वाको कठिन चाम स्याल पें कटे नाहीं । तब तहाँ एक केसरी सिंघ नाहर आयो । स्याल वाके साम्हे जाय कही । स्वामी में एक हाथी मार्यो है । तुम वाकों अंगीकार करो । सिंघ तहा आयो । स्याल सौ कही । हम तो परायो मार्यो खावे नाही । यह हम तो ही कू दयो । सिंघ तो गयो । तब ही एक बघेरा आयो । स्याल बिचार्यो यह दुष्ट है । यासों भेद उपाय डराय कर काम करो । तब वाके थोरो सो साम्हे जाय गुमान सों हितू होय बोल्यो । अहो कहा आवत है । यह हाथी नाहर मार गंगा न्हावन गयो है । मोहि रखवारो कर गयो है । बघेरा जो देखें तो नाहर के खोज देख तुरत भाज्यो । इतने बीच एक चीता आयो स्याल बिचार्यो । यापे हाथी की खाल फराय लीजे । तब चीता सों कही । अहो भगनीसुत बहुत दिन सों देख्यो । भूखो है तो आव । यह हाथी सिंघ मार गयो है । नदी सनान कर आवे तोलों तू कलेवा कर चलत रह । उन कही । मामा हम अपनो माम राखि सकें तो लाख । सिंघ को मार्यो हम कैसें खाय । स्याल कही । हू रखवारो हू । तोहि आडो खरो रहूँगो । सिंघ आवन की सोध द्यों तब भागीया । तब चीता हाथी कू लागो खाल फारी कछु माम मुख में आयो । अरु स्याल खाल फरी जान अरु पुकार्यो । सिंघ आयो है । चीता उठि भाज्यो । स्याल ऐसी भांति दान उपाय करि आप को काम कराय लीयो । पीछे और स्याल सजाती आए तिनसू डड उपाय लराई कर काहू कू हाथी के नजीक आवन न दया । ऐसें सान, दान, डड, भेद च्यार उपाय है सो जैसो मर्मों देखीयें तैसों करीयें । मगर कही । हूँ परदेस जे हूँ । वानर कही । एक चित्रांगद नाम कूकरा परदेस कू चल्यो । काहू गाँव में काहू के घर में पैठो । आछो खान

कू पायो। जब बाहिर आयो तहाँ गाँव के कूकर वाहि लागे। सब फिरि घर आयो। सब कूकर वाकों परदेस की बात पूछन लागे। उन कही। परदेस में और सब बात भली पै सजाती देख सकें नाही। जब लौं घर बैठे पेट भरे तबलौं बाहिर निकरीयै नाहा। परदेस को रहनो अति कठिन है। ताते अरे मगर तेरी दुष्ट पतनी तो गई। अरु तू सकाम है। नयो व्याह कर जातें क्यों है। कूवा को पानी, बड की छाह, तुरत्त बिलोवना घिरत, खीर को भोजन, बाल स्त्री यह प्रान के पोषक हैं। अवस्था प्रमान कारज करीजे। तामें दोष नाही। यह उपदेस सुनि मगर अपने घर आयो। घर माडयो मनोरथ भयो। इहा बिसनसरमा राजपुत्रन सो आसीस दीनो। अरु कही। तुम्हारी जय होहु। मित्र को लाभ होहु। ऐसो सुनि गुरु के पायलागि अपने नीति मारग में सुख सों राज कीयो। इति श्री हितोपदेश ग्रंथ ग्वालेरी भाषा लवध प्रनासन नाम पचमो आख्यान हितोपदेस सपूर्ण। श्रीरस्तु। शुभमवतु। कल्याणमस्तु।

२

सूरदास

(सन् १५७० ई०)

राग सारंग *

ब्यास कह्यौ सुकदेव सौं, श्री भागवत बखानि।
द्वादस स्कंध परम सुभ, प्रेम-भक्ति की खानि।
नव स्कंध नृप सौं कहे श्री सुकदेव सुजान।
सूर कहत अब दसम कौं, उर धरि हरि कौ ध्यान ॥६१६॥

राग बिलावल

हरि-हरि हरि हरि सुमिरन करौ। हरि-चरनारबिंद उर धरौ।
जय अरु बिजय पारषद दोइ। बिप्र सराप असुर भए सोइ।
दोउ जन्म ज्यौं हरि उद्धारे। सो तौ मैं तुम सौं उच्चारे।
दंतबक्र-सिसुपाल जो भए। बासुदेव ह्वै सो पुनि हए।
औरौ लीला बहु बिस्तार। कीन्हौ जीवनि कौ निस्तार।
सो अब तुमसौं सकल बखानौं। प्रेमसहित सुन हिरदै आनौ।
जो यह कथा सुनै चितलाइ। सो भव तरि बैकुंठहिं जाइ।
जैसें सुक नृप कौ समुझायौ। सूरदास त्यौंही कहि गायौ ॥६२०॥

राग नट

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।
जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै, तिहिं बिधि राखत मन कौं।
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय, पट तन कौं।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत-सँग, औचट गुनि गृह बन कौं।
परम उदार, चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर निधन कौं।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन कौं।

* सूर सागर के ये पद काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण से लिए गए हैं। पद-क्रमांक भी उसी संस्करण के हैं।

संकट परे तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौ।
कोटिक करै एक नहिं मानै- सूर महा कृतघन कौ ॥९॥

राग धनाश्री

हरि सौं मीत न देख्यौ कोई।
बिपति-काल सुमिरत तिहिं औसर आनि तिरीछौ होई।
ग्राह गहे गजपति मुकरायौ, हाथ चक्र लै धायौ।
तजि बैकुंठ, गरुड तजि, श्री तजि, निकट दास कै आयौ।
दुर्वासा कौ साप निवार्‌यौ, अम्बरीष-पति राखी।
ब्रह्मलोक-परजंत फिर्‌यौ तहँ देव-मुनि-जन साखी।
लाखागृह तैं जरत पांडु-सुत बुधि-बल नाथ उबारे।
सूरदास-प्रभु अपने जन के नाना त्रास निवारे ॥१०॥

राग धनाश्री

राम भक्तबत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहिं रंक होइ कै रानौं।
सिव-ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु, हौं अजान नहिं जानौं।
हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं, सो हमता क्यों मानौं?
प्रगट खम्भ तें दए दिखाई, जद्यपि कुल कौ दानौ।
रघुकुल राघव कृस्न सदा ही गोकुल कीन्हौं थानौं।
बरनि न जाइ भक्त की महिमा, बारम्बार बखानौं।
ध्रुव रजपूत, बिदुर दासी-सुत, कौन कौन अरगानौ।
जुग जुग बिरद यहै चलि आयौ, भक्तनि-हाथ बिकानौ।
राजसूय मैं चरन पखारे, स्याम लिए कर पानौ।
रसना एक, अनेक स्याम-गुन, कहँ लगि करौं बखानौ।
सूरदास-प्रभु महिमा अति, साखी बेद-पुरानौ ॥११॥

राग केदारौ

जन की भोर कौन पति राखै ?

जाति-पाँति-कुल-कानि न मानत, वेद पुराननि साखै ।
जिहि कुल राज द्वारिका कीन्हौ, सो कुल साप तें नास्यौ ।
सोइ मुनि अम्बरीष के कारन तीनि भुवन भ्रमि त्रास्यौ ।
जाकौ चरनोदक सिव सिर धरि, तीन लोक हितकारी ।
सोइ प्रभु पांडु-सुतनि के कारन निज कर चरन पखारी ।
बारह बरस वसुदेव-देवकिहिं कंस महा दुख दीन्हौ ।
तिन प्रभु प्रहलादहिं सुमिरत ही नरहरि-रूप जु कीन्हौ ।
जग जानत जदुनाथ जिते जन निज-भुज स्रम-सुख पायौ ।
ऐसो को जु न. सरन गहे तें कहत सूर उतरायौ ।।१५।।

राग-केदारौ

ठकुरायत गिरधर की साँची ।

कौरव जीति युधिष्ठिर-राजा, कीरति तिहूँ लोक में माँची ।
ब्रह्म-रुद्र डर डरत काल कें, काल डरत भ्रू-भंग की आँची ।
रावन सो नृप जात न जान्यौ, माया विषम सीस पर नाची ।
गुरु-सुत आनि दिए जमपुर तें विप्र सुदामा कियौ अजाची ।
दुस्सासन कटि-वसन छुड़ावत, सुमिरत नाम द्रोपदी बाँची ।
हरिचरनारबिंद तजि लागत अनत कहूँ, तिनकी मति काँची ।
सूरदास भगवंत भजत जे तिनकी लीक चहूँ जुग खाँची ।।१८।।

राग मलार

स्याम गरीबनि हूँ के गाहक ।

दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति-निबाहक ।
कहा बिदुर की जाति-पाँति, कुल प्रेम-प्रीति-के लाहक ।
कहा पाडव कैं घर ठकुराई ? अरजुन के रथ-बाहक ।
कहा सुदामा कैं धन हो ? तौ सत्य-प्रीति के चाहक ।
सूरदास सठ, तातें हरि भजि आरत के दुख-दाहक ।।१६।।

राग सारग

जापर दीनानाथ ढरै ।
सोइ कुलीन, बडौ सुन्दर सोइ, जिहि पर कृपा करै ।
कौन विभीषन रक-निसाचर, हरि हँसि छत्र धरै ।
राजा कौन बडौ रावन तैं, गर्बहिं-गर्ब गरै ।
रकव कौन सुदामा हूँ तैं आप समान करै ।
अधम कौन है अजामील तैं, जम तहँ जात डरै ।
कौन विरक्त अधिक नारद तैं निसि-दिन भ्रमत फिरै ।
जोगी कौन बडौ सकर तैं, ताकौ काम छरै ।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तैं, हरि पति पाइ तरै ।
अधिक सुरूप कौन सीता तैं, जनम वियोग भरै ।
यह गति-मति जानै नहिं कोऊ, किहिं रस रसिक ढरै ।
सूरदास भगवत-भजन बिनु फिरि-फिरि जठर जरै ॥३५॥

राग बिलावल

हरि के जन की अति ठकुराई ।
महाराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई ।
निरभय देह राज-गढ ताकौ, लोक मनन-उतसाहु ।
काम क्रोध, मद, लोभ, मोह, ये भए चोर तैं साहु ।
दृढ बिस्वास कियौ सिंहासन, ता पर बैठे भूप ।
हरि-जस विमल छत्र सिर ऊपर, राजत परम अनूप ।
हरि-पद-पकज पियौ प्रेम रस, ताही कैं रग रातौ ।
मत्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातौ ।
अर्थ-काम दोउ रहैं दुवारैं, धर्म मोक्ष सिर नावैं ।
बुद्धि विवेक विचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावैं ।
अष्ट महा-सिधि द्वारैं ठाढी, कर जोरे, डर लीन्हे ।
छरीदार बैराग बिनोदी, झिरकि बाहिरै कीन्हे ।

माया, काल, कछू नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानै ।
सूरदास यह सकल सामग्री, प्रभु-प्रताप पहिचानै ॥४०॥

राग बिलावल

यह आसा पापिनी दहै ।
तजि मेवा बैकुंठनाथ की, नीच नरनि के संग रहै ।
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनकौं राजा-राय कहै ।
धन-मद-मूढ़नि, अभिमानिनि, मिलि, लोभ लिए दुर्बचन सहै ।
भई न कृपा स्याम सुन्दर की, अब कहा स्वारथ फिरत बहै ।
सूरदास सब-सुख-दाता-प्रभु-गुन विचारि नहिं चरन गहै ॥५३॥

राग सारंग

फिरि-फिरि ऐसोई है करत ।
जैसैं प्रेम पतंग दीप सौं, पावक हू न डरत ।
भव-दुख-कूप ज्ञान करि दीपक, देखत प्रगट परत ।
काल-व्याल, रज-तम-विष-ज्वाला, कत जड जंतु जरत ।
अबिहित बाद-बिवाद सकल मत इन लगि भेष धरत ।
इहि विधि भ्रमत सकल निसि-दिन गत, कछु न काज सरत ।
अगम सिंधु जतननि सजि नौका, हठि क्रम-भार भरत ।
सूरदास-ब्रत यहै, कृष्ण भजि, भव-जल-निधि उतरत ॥५५॥

राग धनाश्री

जनम साहिबी करत गयौ ।
काया-नगर बड़ी गुंजाइस, नाहिंन कछु बढ़यौ ।
हरि कौ नाम, दाम खोटे लौं, झकि-झकि डारि दयौ ।
विषया-गाँव अमल को टोटौ, हँसि-हँसि कै उमयौ ।
नैन-अमीन, अधर्मिनि कै बस, जहाँ कौ तहँ छयौ ।
दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ ।
पाप उजीर कह्यौ सोई मान्यौ, धर्म-सुधन लुटयौ ।
चरनोदक कौं छाँड़ि सुधा-रस, सुरा-पान अँचयौ ।

कुबुधि-कमान चढ़ाइ कोप करि, बुधि तरकस रितयौ।
सदा सिकार करत मृग-मन को, रहत मगन भुरयौ।
घेर्‌यौ आइ कुटुम-लसकर मैं, जम अहदी पठयौ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि भ्रमि, घर घर कौ जु भयौ ॥६४॥

राग बिहाग-तिताला

अब तौ यहै बात मन मानी।

छाडौं नाहिं स्याम-स्यामा की बृन्दाबन रजधानी।
भ्रम्यौ बहुत लघु धाम बिलोकत छन-भंगुर दुखदानी।
सर्वोपरि आनन्द अखंडित सूर-मरम लपिटानी ॥८७॥

राग धनाश्री

साँचो सो लिखहार कहावै।

काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।
मन-महतो करि केद अपने मैं, ज्ञान जहतिया लावै।
माँडि-माँडि खरिहान क्रोध कौ, पोता भजन भरावै।
बट्टा काटि कसूर भरम कौ, फरद तलै लै डारै।
निहचै एक असल पै राखै, टरै न कबहूँ टारै।
करि अवारजा प्रेम प्रीति को, असल तहाँ खतियावै।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैकु न तामैं आवै।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल कौ, हरि सौं तहँ लै राखै।
निर्भय रूपं लोभ छाँड़ि कै, सोई वारिज राखै।
जमा-खरच नीके करि राखै, लेखा समुझि बतावै।
सूर आपु गुजरान मुहासिब, लै जवाब पहुँचावै ॥१४२॥

६

गोविन्द स्वामी

(सन् १५५० ई०)

विष्णुपद

राग सारग

कुवर बैठे प्यारी के सग अगअग भरे रग
बलबल बक त्रिभगी युवतिन सुखदाई ॥
ललित गती विलास हास दपति मन अति उल्हास,
विकसित कच सुमनवास स्फुटत कुसुम निकर तैसी ही शरद
रैन जुन्हाई ॥१॥
नवनिकुज मधुप गुज कोकिल कल कूजत पुज
सीतल सुगध मद बहत पवन अति सुहाई ॥
गोविन्द प्रभु सरस जोरि नवकिशोर नव किशोरी
निरख मदन फौज मोरी छैल छबीले नवल
कुवर व्रज नृपकुल मनिराई* ॥२॥

राग मल्हार

माई जु स्याम जलदघटा ओल्हर चहुँ दिशतें घनघोर ॥
दम्पति परस्पर वाही जोटी विरहत कुसुमवीनत कालिदी तटा ॥
बडी बड़ी बूदन बरषन लाग्यो तैसी लहेक्त बीज छटा ॥
गोविद प्रभु पीय प्यारी उठ चले ओढे लाल पट दौर लिए
जाय बसो बटा† ॥

---

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता . गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण, पृष्ठ १६२ ।
† वही, पृष्ठ १६४ ।

७

आसकरण

(सन् १५५० ई०)

पद-संग्रह

धमार

या गोकुल के चौहटे रगराची ग्वाल ।।
मोहन खेले फाग नैन ने मेरी रग राची ग्वाल ।।

राग केदारो

कीजे पान लला रे ओट्यो दूधलाई जशोदा मैया ।।
कनक कटोरा भर पीजे व्रजबाल लाडले तेरी वेनी वढेगी भैया ।।
ओट्यो नीको मधुरो अछूतो रुचि सो करी लीजे कन्हैया ।।
आसकरन प्रभु मोहननागर पय पीजे मुख दीजे प्रात करोगी धैया ।।

राग कान्हरो

बियारू करत है घनश्याम ।।
खुरमा खाजा गुजा मठरी पिस्ता दाख बदाम ।।१।।
दूध भात घत सानि थार भरि ले आई व्रजबाम ।।
आसकरन प्रभु मोहन नागर अग अग अभिराम ।।२।।

राग केदारो

मोहन लाल बियारू कीजे ।।
व्यजन मीठे खाटे खारे रुचि सो भाग जननी पै लीजे ।।१।।
मधु मेवा पकवान मिठाई ता उपर तातो पय पीजे ।।
सखा सहित मिलीजे मो रुचि सों जूठिन आसकरन को दीजे ।।२।।

राग केदारो

पोढाये पिय कुवर कन्हाई ।।
युक्तिनवल विविध कुसुमावलि ये अपने कर सेज बनाई ।।१।।
नाहिन सखी समय काहू को ग्वाल मडली सब बोराई ।।
आसकरन प्रभु मोहन नागर राधा को ललिता ले आई ।।२।।

राग केदारो

तुम पोढो हो सेज बनाउँ ॥

चापू चरन रहूँ पायन तर मधुरें स्वर केदारो गाउँ ॥१॥
सहेचरि चतुर सबे जुरि आई दम्पति सुख नयनन दरसाउँ ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर यह सुख श्याम सदा हौं पाउं ॥२॥

राग केदारो

पोढ रहो घनश्याम बलैया लेहूँ ॥

श्रमित भये हो आज गा चारत घोप परत है धाम ॥१॥
सीरी बियार झरोखन के मग आवत अति सीतल सुखधाम ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर अग अग अभिराम ॥२॥

राग गौरी

मोहन देखि सिराने नैना ॥

रजनी मुख आवत गायन सग मधुर बजावत बैना ॥१॥
ग्वाल मडली मध्य बिराजत सुदरता को ऐना ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर वारो कोटिक मैना ॥२॥

राग विभास

प्रात समय घर घर तें देखन को आई गोकुल की नारी ॥
अपनो कृष्ण जगाय यशोदा आनन्द मगल कारी ॥१॥
सब गोकुल के प्राण जीवन धन या सुत की बलिहारी ॥
आसकरण प्रभु मोहन नागर गिरिगोवर्धनधारी ॥२॥

राग विभास

उठो मेरे लाल लाडिले रजनी बीती तिमिर गयो भयो भोर ॥
घर घर दधि मथनिया घूमे भए द्विज करत वेद की घोर ॥१॥
करि कलेउ दधि श्रोदन मिश्री बाटि परोसो श्रोर ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर वारों तुम पर प्राण अकोर ॥२॥

राग रामकली

मोहे दधि मथन दे वलि गई ॥

जाउ वल बल वदन ऊपर छांड मथनी रई ॥१॥
लाल देउगी नवनीत लौंदा मार तुम कित ठई ॥
सुत हित जान बिलोक यशोमति प्रेम पुलकित भई ॥२॥
ले उछग लगाय उरसों प्राण जीवन जई ॥
बाल केलि गुपालजू की आसकरण निन नई ॥३॥

राग रामकली

यह नित्य नम यशोदा जू मेरे तिहारोई लाल लडावन कु ॥
प्रात समय उठ पलना झुलाउ शकट भजन यश गायन कु ॥१॥
नाचत कृष्ण नचावत गोपी करकटताल बजावन कु ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर निरख वदन सचु पावन कु ॥२॥

राग विभास

नदकिशोर यह बोहनी करन न पाई ॥

गोरस के मिष रसहि छटोरत मोहन मीठी तानन गाई ॥१॥
गोरस मेरे घरहि विके हैं क्यों वृदावन जाय ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर यशोमति जाय सुनाय ॥२॥

राग विभास

कब तें भयो हे दधि दानी ॥

मटुकी फोरत हरवा तोरत यह बात मैं जानी ॥१॥
नदराम की कान करत हुँ और जसोदा रानी ॥
आसकरण प्रभु मोहन नागर गुण सागर अभिमानी ॥२॥

राग केदारा

गोप मंडली मध्य मनोहर अति राजत नंद के नंदा ॥
सोभित अधिक शरद की रजनी उडुगण मानों पूरण चंदा ॥१॥
व्रज युवती निरख मुख ठाडी मानत सुन्दर आनन्द कंदा ॥
मानकरन प्रभु मोहन नागर गिरधर नवरस रसिक गोविंदा* ॥२॥

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता : गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास संस्करण पृष्ठ २०३-२१० ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

अनुराग बांसुरी— चन्द्रबली पांडे

अनूपसंगीत रत्नाकर— भावभट्ट

अनगरंग— कल्याणसिंह तोमर

अर्धकथानक— बनारसीदास जैन (सं० नाथूराम प्रेमी)

अष्टछाप परिचय— प्रभुदयाल मीतल

आईन-ए-अकबरी— ग्लेडविन

आईन-ए-अकबरी— ब्लोचमैन

आनन्दघन चम्पू— मित्र मिश्र

आल्ह खंड— जगनिक (जगनायक)

इम्पीरियल फरमान्स— कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी

उत्तर रामचरित— अनु० कविरत्न श्री सत्यनारायण

उत्तरी भारत की संत परंपरा— परशुराम चतुर्वेदी

एनाल्स एण्ड एंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान— टॉड

ऐतरेय ब्राह्मण—

कथा सरित्सागर— सोमदेव

कबीर का रहस्यवाद— डॉ० रामकुमार वर्मा

कबीर ग्रंथावली— श्यामसुन्दरदास

करहिया का रायसा— गुलाब कवि

कविप्रिया— केशवदास

काव्य मीमांसा— राजशेखर

काव्यादर्श— दण्डी

क्रिसन रुकमिणी री बेलि— पृथ्वीराज राठौड (सं० नरोत्तम शास्त्री)

कीर्तिलता—	विद्यापति
कुवलयमाला —	
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—	
केशवदास—	चन्द्रबली पाडे
खडेराय रायसा—	जदुनाथ
ग्वालियरनामा—	खडगसेन
ग्वालियर राज्य के अभिलेख—	हरिहरनिवास द्विवेदी
गीत गोविन्द—	जयदेव
गीता पद्यानुवाद—	धेघनाथ
चदावन—	मुल्ला दाऊद
चदेलों का इतिहास—	केशवचन्द्र मिश्र
चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती—	हरिहरनिवास द्विवेदी
चैतन्य चरणामृत—	कृष्णदास
चौरासी वैष्णवन की वार्ता—	(गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण)
छन्द प्रभाकर—	जगन्नाथप्रसाद 'भानु'
छत्र प्रकाश—	गोरेलाल
जहांगीर नामा—	
जुबदत-उल-तवारीख—	शेर-नूर-उल-हक
झासी का रायसा—	कल्याणसिंह कुडरा
टॉड का राजस्थान—	(अनु० ओझा)
तारीख-इ-दौदी—	
तारीख-इ-मयीनी—	अल उत्वी
तुलसी की जीवन-भूमि—	चन्द्रबली पाडे
तुलसीदास—	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
दक्खिनी का गद्य और पद्य—	श्रीराम शर्मा
दक्खिनी हिन्दी—	डॉ० बाबूराम सक्सेना

दमयन्ती कथा—	त्रिविक्रम भट्ट
दलपत रायसा—	जोगीदास
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—	(गंग विष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई संस्करण)
पदम चरित—	रइधू
पद्म चरित—	स्वयम्भू
पद्मावत—	जायसी
पारिछत रायसा—	श्रीधर
पार्श्वपुराण—	रइधू
पुरुषोत्तम सहस्रनाम—	वल्लभाचार्य
पृथ्वीराज रासो—	चदवरदायी
प्रबोध चन्द्रोदय—	कृष्ण मिश्र
प्रबंध चिन्तामणि—	मेरुतुंगाचार्य (अनु० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)
प्राकृत चंद्रिका—	
प्राकृत-सर्वस्व—	
प्रेम सागर—	लल्लूलाल (सं० ब्रजरत्नदास)
बाग्ला साहित्येर इतिहास—	सुकुमार सेन
बाग्ला साहित्येर कथा—	सुकुमार सेन
बाघाइट रायसा—	आनन्दसिंह कुड़रा
बीसलदेव रासो—	नरपति नाल्ह (सं० सत्यजीवन वर्मा)
बुद्ध चरित्र—	रामचन्द्र शुक्ल
बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास—	गोरेलाल तिवारी
बैताल पच्चीसी—	मानिक
ब्रजभाषा—	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
ब्रजभाषा का व्याकरण—	किशोरीदास वाजपेई

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन— डॉ० सत्येन्द्र
ब्रजलोक सस्कृति— डॉ० सत्येन्द्र
भक्तमाल— नाभादास
भक्त रत्नावली— नाना बुग्रा केन्दूरकर
भविष्यदत्त चरित्र— विबुध श्रीधर
भागवत सप्रदाय— बलदेव उपाध्याय
मकरध्वज कथा— गोस्वामी विष्णुदास
मधुमालती— चतुर्भुजदास
(स० हरिहरनिवास द्विवेदी)

मनुस्मृति—
महाभारत कथा— गोस्वामी विष्णुदास
महात्मा कबीर— हरिहरनिवास द्विवेदी
माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर— कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी
माधवविलास— महादजी शिंदे
(स० भा० रा० भालेराव)

माधवानल कामकन्दला चउपई— कुशल लाभ
माधवानल कामकन्दला प्रबंध— स० श्री मजमूदार
मानकुतूहल— मानसिंह तोमर
मानसिंह मानकुतूहल— हरिहरनिवास द्विवेदी
मालती माधव— अनु० कविरत्न
श्री सत्यनारायण

मुन्तखब-उत्-तवारीख— अलबदायूनी (अनु० रेनकिन)
मोहनदास का पदसग्रह—
यशोधर चरित— पद्मनाभ
यशोधर चरित— स्वयभू
यूसुफ जुलेखा— शेख निसार
रसविलास— गोपाल

रसिकप्रिया—	राणा कुम्भकर्ण
रागदर्पण—	फकीरुल्ला सैफखा
राजनीति—	लल्लूलाल
राजपूताने का इतिहास—	गौरीशंकर हीराचंद ओझा
राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज —	
रामचरित मानस—	गोस्वामी तुलसीदास
रामचन्द्रिका —	केशवदास
रुक्मिणी मंगल—	गोस्वामी विष्णुदास
वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ—	परमानन्द जैन शास्त्री
विचारधारा—	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
विज्ञान गीता—	केशवदास
वीरमित्रोदय—	मित्र मिश्र
वीरसिंहदेव चरित—	केशवदास
वैष्णव प्रपत्ति वैभव—	गोविन्ददास
शाहनामा—	फिरदौसी
सबरस—	वजही (सं० श्रीराम शर्मा)
सम्यक्त्व गुण निधान—	रइधु
सत्रजीत रायसा—	किसुनेस
साहित्य लहरी—	सूरदास
सुकुमाल चरित—	विबुध श्रीधर
सुन्दर शृंगार—	सुन्दर कविराय
सूरदास—	डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
सूरदास—	रामचन्द्र शुक्ल
सूर निर्णय—	द्वारिकाप्रसाद पारिख एव प्रभुदयाल मीतल
सूरसागर—	सूरदास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)

सूर सौरभ— मुंशीराम शर्मा
संगीत राज— राणा कुम्भकर्ण
संगीत-समयसार— पार्श्वदेव
स्वर्गारोहण कथा— गोस्वामी विष्णुदास
हम्मीर महाकाव्य— नयचन्द्र सूरि
हरिवंश पुराण— स्वयंभू
हित तरंगिनी— कृपाराम
हिन्दी काव्य धारा— राहुल सांकृत्यायन
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवरसिंह
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य— डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ
हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य संग्रह— गणेश प्रसाद
हिन्दी भाषा का इतिहास— धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास— अयोध्यासिंह उपाध्याय
हिन्दी साहित्य— डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का इतिहास— रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति— विष्णुनारायण भातखंडे
हृदय तरंग— कविरत्न सत्यनारायण

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) ओरिएटल कॉलेज मेगजीन—
(२) काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका—काशी
(३) भारती— ग्वालियर
(४) विन्ध्यभारती— रीवा
(५) सरस्वती— इलाहाबाद
(६) हिन्दुस्तान साप्ताहिक— दिल्ली